UPNUL/2013/51445 **अभिनिर्देशित** ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
पूर्व-अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष 10 अङ्क 1

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी 13/90 सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

अगस्त, **2020**

सम्पादक :
डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed in Religious Studies

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : 125/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Ex-Head, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष 10 अङ्क 1

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

August, 2020

Editor :
Dr. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed in Religious Studies

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	डॉ. राजेन्द्रप्रसादशर्मा	
शोधलेख			
1.	आचार्य अभिनवगुप्त–प्रणीत स्तोत्रों में रस–साधना का दर्शन	प्रो. रमाकान्त आङ्गिरस	1–8
2.	ब्रह्म और कर्म के वैदिक विज्ञान भाव का गूढ़ रहस्य	आचार्य गुलाब कोठारी	9–14
3.	उपनिषदों में आनन्द का स्वरूप	कुलदीप शर्मा	15–28
4.	सौरागमीयचर्या–विमर्श	प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय	29–34
5.	कश्मीरी दार्शनिक भक्ति की क्रमिकता	डॉ. बीना अग्रवाल	35–42
6.	षट्चक्र में स्थित मातृका एवं प्रधान योगिनी स्वरूप विमर्श	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	43–51
7.	मनोवृत्तियों और आचरण का परिशोधक महाभारतीय धर्म	डॉ. राजकुमारी त्रिखा	52–58

8.	The connotation of dialogue between Yājñavalkya and Máitreyí as mentioned in BrhadãrankoUpanisad	Dr. Aditya Angiras	59–78
9.	Tantras are based on Vedas	Dr. Mythili Seetharaman	79–89
10.	Action-Outcome Outline's Recall, Usability & Utility	Chaitanya C. Ugale and Dr.Sanjay D. Singh	90–103

ग्रन्थ समीक्षा

11.	सम्प्रेषण एवं संवाद पर अद्वितीय कृति : *संवाद उपनिषद्* — विद्यावाचस्पति गुलाब कोठारी कृत	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	104

सम्पादकीय

सौभाग्य का विषय है कि परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नवीन अङ्क प्रकाशित हो रहा है।

इस अङ्क के प्रथम आलेख 'आचार्य अभिनवगुप्त-प्रणीत स्तोत्रों में रस-साधना का दर्शन' में तन्त्रशास्त्र के मूर्धन्य गुरुवर प्रोफेसर रमाकान्त शर्मा आङ्गिरस ने महामहेश्वर अभिनव गुप्त के रससिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में उनके प्रणीत स्तोत्र की मीमांसा करते हुए उनका दार्शनिक मार्ग सुस्पष्ट किया है। समालोचक की सौन्दर्य दृष्टि से उनके मन्त्र काव्य के स्तोत्रों की महिमा तथा रसाभिव्यक्ति को सहृदय, तन्त्रज्ञ, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मनीषी ही प्रकट कर सकता है। इस प्रौढ़ समीक्षात्मक आलेख के लिए उनको कोटिश: प्रणाम।

इस अङ्क के द्वितीय आलेख 'ब्रह्म और कर्म के वैदिक विज्ञान भाव का गूढ़ रहस्य' में राजस्थान पत्रिका के प्रधान सम्पादक तथा पं. मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन संस्थान के आचार्य प्रख्यात वेदमनीषी गुलाब कोठारी ने ब्रह्म एवं कर्म के वैदिक विज्ञान भाव के गूढ़ रहस्य को प्रकट कर दार्शनिक चिन्तन को एक नई दिशा दी है। जीव में अन्तर्निहित ब्रह्म तत्त्व को स्वसमर्पण से कर्त्ता मानने पर, स्वयं जीव का अकर्तृत्व सिद्ध होता है जिससे वह सद्य: ब्रह्मभाव को अधिगत कर लेता है। यहाँ गीता के आधार पर सिद्धान्त के रहस्य को उन्मीलित किया गया है जो वास्तव में गहन शास्त्रीय विवेचन है। अत: सादर प्रणाम व अभिनन्दन।

तृतीय आलेख 'उपनिषदों में आनन्द का स्वरूप' में कुलदीप शर्मा ने उपनिषदों में वर्णित आनन्द के स्वरूप का विवेचन करते हुए लौकिक सुख तथा पारलौकिक सुख से उसकी उत्कृष्टता बौद्धिकता के आधार सिद्ध करने का सुन्दर प्रयास किया है। सुख मानसिक अवस्था है तथा बुद्धिगम्य ब्रह्म के स्वरूप के ज्ञान रूपी आनन्द को पारमार्थिक सिद्ध किया है।

चतुर्थ आलेख 'सौरागमीयचर्या-विमर्श' में प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय ने सौर परम्परा के आग्रम ग्रन्थों के आधार पर सूर्यापासना के विविध आयामों को सुस्पष्ट किया है। उनके व्रत, ग्रहणकाल की उपासना, विधान, षष्ठी पर्वोत्सव तथा लोकगीतों का विषय विवरण तथा साधना की परम्परा को प्रमाणित सिद्ध किया है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

पञ्चम आलेख 'कश्मीरी दार्शनिक भक्ति की क्रमिकता' में प्रो. बीना अग्रवाल, सीनीयर रिसर्च फेलो (ICSSR) ने दार्शनिक भक्ति के स्वरूप को उद्घाटित करते हुए उसकी क्रमिकता में नुति, प्रह्वीभाव स्तुति, आत्मनिवेदन, समावेश तथा शिवरूपता की गम्भीर मीमांसा प्रस्तुत कर महनीय कार्य किया, एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

षष्ठ आलेख में 'षट्चक्र में स्थित मातृका एवं प्रधान योगिनी स्वरूप विमर्श' में डाकिनी, राकिणी, लाकिनी, काकिनी, साकिनी, हाकिनी तथा याकिनी का स्वरूप तथा उनका षट्चक्रों में स्थान का निर्धारण श्रीविद्याक्रम से स्वीकृत परम्परा के अनुसार विवेचित किया है।

सप्तम 'मनोवृत्तियों और आचरण का परिशोधक महाभारतीय धर्म' विषयक आलेख में डॉ. राजकुमारी त्रिखा ने मानव धर्म के ग्राह्यरूप की समीक्षा की है। धर्म का वास्तविक लक्षण, परिस्थिति विशेष में स्वीकार्य धर्म के आधार तथा आचरण एवं मनुष्यों की मनोवृत्तियों को परिष्कृत करने का मार्ग *महाभारत* के आधार पर सुस्पष्ट किया है। अत: इस महनीय कार्य हेतु सादर साधुवाद।

अष्टम आलेख 'The connotation of dialogue between Yājñavalkya and Máitreyí as mentioned in BrhadãrankoUpanisad' में डॉ. आदित्य आङ्गिरस ने *बृहदारण्यक उपनिषद्* में प्रतिपादित 'याज्ञवल्क्य एवं मैत्रयी' संवाद के वैदेशिक व्याख्याओं के विवेचन की सयुक्तिक समीक्षा की है। आत्म तत्त्व की जिज्ञासु मैत्रेयी के वैदुष्यपूर्ण युक्तियों की सटीक दार्शनिक अर्थ को व्याख्यायित कर महान् उपकार किया। एतदर्थ उनका हार्दिक साधुवाद।

नवम आलेख 'Tantras are based on Vedas' में डॉ. मैथिली सीतारामन् ने तन्त्रग्रन्थों की परिभाषा में प्रसिद्ध ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत करते हुए श्रीविद्यापरम्परा के वैदिक व आगमिक ग्रन्थों का प्रामाणिक विवेचन किया है। जिससे वेदविहित परम्परा श्रीविद्या उपासना की प्राचीनता सिद्ध होती है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

अन्तिम आलेख 'Action-Outcome Outline's Recall, Usability & Utility' में चैतन्य सी. उगले एवं डॉ. संजय डी. सिंह ने योगविज्ञान के आधार पर संस्थाओं में कार्यरत कर्मचारियों के प्रबन्धन की उत्कृष्टता में योग एवं मनोविज्ञान की भूमिका स्पष्ट की है। अत: साधुवाद।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
सम्पादक
55 गोविन्दनगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302021
चलवाणी- 9413970601
rajendrasharmauniraj@gmail.com

आचार्य अभिनवगुप्त-प्रणीत स्तोत्रों में रस-साधना का दर्शन

प्रो. रमाकान्त आङ्गिरस

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से लेकर आज तक रस के स्वरूप को लेकर जितनी भी परिकल्पनाएँ की गईं वे कहीं न कहीं किसी रूप में सादृश्यमूलक होकर मार्ग भटक गईं। फलतः रस की बात साहित्यसमीक्षा या सौन्दर्यबोध के गहन स्तरों के पास जाकर भी हाथों में से फिसल जाती है। अतः रस को लेकर की जाने वाली चर्चा कहीं रुकने का नाम नहीं लेती। किसी सादृश्य के आधार पर की जाने वाली बात रसानुभूति को वाच्य बना देती है। परिणामतः लोल्लट चाहे किसी उत्पत्तिमूलक सादृश्य को लेकर अपनी व्याख्या दें, शंकुक अनुमितिवादी 'चित्रतुरगन्याय' का आश्रय लेकर अपनी बात कहें, भट्टनायक भोगानुभव की समानता को लेकर भावकत्व के माध्यम से रसभोग की बात कहें, या फिर आचार्य अभिनवगुप्त की रससिद्धान्तपरक व्याख्या को 'अभिव्यक्तिसादृश्य' के साथ जोड़कर देखें। बात सीधी होने की बजाए रसेप्सु के मन में अनेक शंकाओं और अनुत्तरित प्रश्नों को छोड़ जाती है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त की स्वरचित कुछ काव्यरचनाओं के आधार पर हम उनकी रसदृष्टि का उन्मेष करने का प्रयास यहाँ करेंगे।

यह ठीक है वैदिक वाङ्मय में रस शब्द या उसके समान्तर 'मधु', 'सोम', 'घृत', पयस् आदि कुछ ऐसे पदों का स्थान स्थान पर प्रयोग हुआ है जिन के सेवन से मरा या सूखा सड़ा सा जीवन-प्राण फिर से उमग उठता है। *छान्दोग्य उपनिषद्* में प्राणविद्या अधिकरण में सत्यकाम ने व्याघ्रपाद के पुत्र गोश्रुति को मानवदेह में समस्त अंगों के रसभूत प्राण के रहस्य को देते हुए अन्त में यह कहा कि यदि इस प्राण के रहस्य को किसी सूखे ढूंठ के सामने भी कहा जाएगा तो उसमें फिर से शाखाएँ फूट पड़ेंगी और कोंपलों के कोमल अंकुर भी उग आएँगे **'यद्येनत् स्थाणवे ब्रूयात् जायेरन् एव अस्मिन् शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानि'** (*छान्दोग्यउपनिषद्* V. 23)।

उपनिषदों की यह चित्रमयी भाषा जो ऋचाओं के उद्गम के साथ ही जीवन की प्राणवत्ता को उसके उसी मूल रूप में मुखरित करती आ रही थी वह सभ्यता के बोझलपन से दूर संस्कृति की सारस्वत धारा थी। परवर्ती *आश्वलायन श्रौत सूत्र* (अ. 3 पंचयज्ञ प्रकरण) में इस वैदिक ब्रह्मविद्या की तरलता स्वादुता और सौष्ठव को एक वाक्य में उपसंहृत करते हुए कहा गया कि ऋचाओं के अध्ययन में दूध की धाराओं का रस, *यजुर्वेद* के मंत्रों के पाठ में उठती हुई घृत की सुरभियों का आस्वाद और ब्राह्मणग्रन्थ, कल्पसूत्र, गाथा, नाराशंसी, इतिहास, पुराण के अनुशीलन में अमृतपान की तृप्ति का आनन्द, ये सब, इस अमृतावाक् के चर्वण का फल हो सकते हैं। यह अकृत्रिम संस्कृता वाक् नारद जैसे तत्त्वजिज्ञासु के प्रति जब सनत्कुमार के

मुख से उपदिष्ट होगी तो वहाँ सभी प्रकाश की उपासना में रत लोगों को जीवन के तमस् या अन्धकार के उस पार ले जाएगी जिसे 'स्कन्द' कहा जाता है। जीवन की प्रथम रश्मियों का वह प्रवाह जहाँ एक बार झांक लेने के बाद जिंदगी की दैनन्दिन या रोज़मर्रा की छोटी-छोटी वस्तुओं की तांक-झांक की वासना का सिलसिला समाप्त हो सकता है। क्योंकि वह स्कन्द उस पवित्रता और नैर्मल्य का नाम है जिसके आसपास दर दर तक कहीं कोई छिलका या आवरण-पात्र का नामोनिशान तक नहीं। उसी को कोई-कोई **'अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्'** कहते हैं। वह धूमरहित वह विशोका समाधि है जिसको एक बार छू लेने के बाद रोज़-रोज़ मरना नहीं होता।

हिमालय के दक्षिण की ओर और समुद्र के उत्तर की ओर निष्पाप निवास करने वाली जिन जातियों या प्रजातियों के हाथ यह रहस्य लग गया उनकी पीढ़ियाँ इस रसानुभूति को किसी भी प्रकार से हाथ से न जाने देने के लिए विवश थीं। परवर्ती सभ्यताओं के बढ़ते हुए संघर्षों और उठते हुए कृत्रिम नैतिक मूल्यों के दबाव के अतिरिक्त उन लोगों ने कुछ ऐसे चैनल या सुरंगें बनाने का प्रयास बनाए रखा ताकि धर्म, अर्थ काम की बहती हुई त्रिवेणी के स्रोत ही न सूख जाएँ। यह रसानुभूति का मानसर संभवतः शैवों के कैलाश से बहुत दूर नहीं था। महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त के प्राण इन्हीं हिमाचल की उपत्यकाओं में मंडराते हुए जब मुखरित होते हैं तो उनके काव्य की मर्मस्पर्शिता उनके पाठकों को भी उस 'अनुत्तर' पद का साक्षात्कार कराने लगती है और उनकी काव्यप्रतिभा समाधिकाव्य की सृष्टि करने लगती है जिसमें प्राणों का संचार स्वतः स्तब्ध होने लगता है। बन्ध और मोक्ष की शास्त्राभ्यास या भोगाभ्यास से बनी हुई कल्पनाए स्वतः ही निर्बन्ध होकर खुल जाती है। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति या रात के अन्धेरे में किसी छाया को पिशाच समझ बैठने की भ्रान्ति का आतंक स्वत: मिट जाता है, तथा पदार्थों के ग्रहण एवम् त्याग की अहंता का हिमखण्ड पिघल कर स्वस्थता में रूपान्तरित हो जाता है। इसलिए यह मानकर चलना होगा कि नाट्यशास्त्र पर *'अभिनवभारती'* नामक भाष्य लिखते हुए आचार्य अभिनवगुप्त की संवेदना अभिनवरूपा शक्ति और उस शक्ति में निहित जो महेश्वर हैं, उन दोनों के यामलरूप को आत्मसात् करके शिवता की भूमि पर दृढ़ता से पैर जमा चुकी थी। आचार्य की रचना *परमार्थचर्चा* पर विवरण आरम्भ करते हुए हरभट्ट कहते हैं—

अभिनवरूपा शक्तिस्तद्युग्मो यो महेश्वरो देवः ।
तदुभययामलरूपमभिनवगुप्तं शिवं वन्दे ।।

शिव-शक्ति के इस यामलभाव के परमेश्वर की इच्छामात्र से कल्पित होने के कारण किसी भी रूप में संवित् शिव से भिन्न न होने से उनमें अद्वैतता कभी खण्डित नहीं होती। लगता है कि परवर्ती वैष्णवसाहित्य में भी द्वैतता को अद्वैतता का ही रूप कल्पित करते हुए कहा गया है—'**लीलार्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्**।' परन्तु काश्मीर शैवाचार्यों ने 'लीला' पद के स्थान पर परमेश्वर की स्वेच्छा और उसके उन्मुक्त स्वातन्त्र्य को ही क्रीड़ारस में उपयोगी बनाया। अभिनव कहते हैं—

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः ।।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान् विधत्ते युगपद् विभुः।।

अपनी ही विमर्शशक्ति से नित्य क्रीड़ा करते हुए शिव का संपूर्ण सृष्टि में और मानवचेतना के प्रत्येक केन्द्रीय धरातल पर प्रतिपल जो क्रीडन हो रहा है वही तो नाट्यकला का मूल है। शिव की नाट्यक्रीड़ा में शिव स्वयम् ही नटराज की भूमिका करते हुए अज्ञान की ग्रन्थियों को तोड़ते हुए जब अपनी 'स्वशक्ति' की अभिव्यक्ति करने लगते हैं तो घनिष्ठता या गहनता की उस सान्द्र अनुभूति में आनन्दरूप मोक्ष उच्छल हो उठता है—

अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः। *(परमार्थसार, 60)*

काव्य एवम् काव्य की ही एक कला नाट्य के द्वारा इसी क्रीड़ारस को अपने सहृदयों के हृदय में जगाने के नैपुण्य को ही भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र का विषय बनाया है। कालान्तर में उस नाट्यशास्त्र की कुछ एक अपव्याख्याओं में ग्रन्थकारों के अपने अपने बुद्धिभेद से किए गए अपकर्ष के कारण आचार्य अभिनवगुप्त ने शैवी व्याख्या देकर अत्यन्त निगूढकोमल कुछ एक सहृदय लोगों द्वारा ही अपने अन्तरंग में स्फुरित होने वाली रस-संवित् को ठीक प्रकार से अभिव्यक्ति की दिशा देकर नाट्यशास्त्र की दृष्टि के अनुकूल रससूत्र की व्याख्या दी। कारण संभवतः यही था कि महेश्वर के उपासक लोगों को यह पता था कि शिव नटराज हैं। यह विश्व, जो रंगशाला है उसमें नटराज की आत्माभिव्यक्ति उनकी आनन्द की उच्छलता के अतिरिक्त क्या है? वह अनुत्तर शिव के विश्व में परिपूर्ण अहंभाव के ही चमत्कार का उल्लास है।

अभिनवगुप्त की रचना *श्रीबोधपञ्चदशिका* के टीकाकार श्री हरभट्टशास्त्री श्लोक 14 की व्याख्या करते हुए कहते हैं—**"स्वेच्छयैव स्वात्मप्रच्छादनक्रीडारसिकत्वान्महेश्वरो विश्वनाट्यक्रीडाप्रदर्शनाभिप्रायेण अन्तरात्मरङ्गे तत्तद्भूमिकाग्रहणं विदधद् विभावानुभावादिभिर्व्यञ्जितैः सात्त्विकभावादिसहितैस्तत्तत्स्थायिभावैः समुन्मिषितामलौकिकरसचमत्कृतिमास्वादयति। एतद् वास्तवार्थाभिज्ञानविरहादपराभिः शक्तिभिः प्रमुषित-परमार्थानां बन्धाभिमानो जायते।"** *(बो. पं., पृ.16)* कि शिव अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से ही क्रीडा को प्रदर्शित करने के अभिप्राय से अन्तरात्मा के रंगमञ्च पर पृथक् पृथक् भूमिका को लेकर विभाव और अनुभाव आदियों से व्यञ्जित तथा सात्विक भावों के सहचारी पृथक् पृथक् स्थायिभावों के द्वारा उद्घाटित या उद्भासित होकर अलौकिक रससम्बन्धी चमत्कार का आस्वादन कराते हैं। जो लोग इस काव्य-नाटकजन्य अर्थ को नहीं समझ पाते या उसके परमार्थज्ञान से निम्नस्तरीय अपरा शक्तियों के बन्धन के कारण अपरिचित हैं उनका हृदय अविकसित या भीतर ही भीतर चल निकलने वाली अन्तस् की रसलहरी से खिल नहीं पाता—"**अन्तःस्रावविहीनानां सदा संतप्तचेतसाम्।**" यह अन्तःस्राव अभिनवगुप्त के मत में संवित् या पराचेतना का वह प्रसाद या निर्मलता है, जो एक बार भैरव शिव की परा प्रतिभा में डुबकी लगा आने के बाद ही प्राप्त हो पाती

है जिसके बाद फिर किसी प्रकार के उपाय या प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। सहज ही में स्वप्रकाश या उस रस की उपलब्धि होने लगती है जिसे अध्यात्म की भाषा में शिव कहा जाता है—

उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः
स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः ।। *तन्त्रालोक, 3-63*

आचार्य अभिनवगुप्त के शैव काव्य का यही दर्शन है जो *अभिनव-भारती* आदि समीक्षा-निकषों के ललाट पर स्वर्ण रेखाओं के रूप में उद्भासित है। इसी के अनुसार नाट्य आदि कलाओं में शैवी क्रीडा के अंगभूत विभाव, अनुभाव और संचारियों के सामरस्यमूलक संयोग से संविद्रूप शिव अथवा रस की अभिव्यक्तिपरक निष्पत्ति होती है।

काव्यसाहित्य या कलासमूह यदि जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं तो जीवन की अनेकरूपा अभिव्यक्ति या परिणामशीलता विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण के बीचों-बीच माननी होगी और जीवन की अभिव्यक्तियों को रसरूप शिवता के साथ जोड़कर देखना होगा और रस का वैलक्षण्य या लोकोत्तरता यही है कि वह विश्वमयता और विश्वोत्तीर्णता के शुक्र-शोणित में से उद्भूत होने पर भी स्वयं में नित्यनवीन है। *ऋग्वेद* संभवतः इसी को अभिमुख बना कर **"नवो नवो भवति जायमानः"** अर्थात् वह तत्त्वाग्नि उत्पन्न होने की प्रक्रिया को निमित्त बनाकर प्रतिपग एक प्रकार की नवीनता में प्रवेश करता चलता है। बन्धन और मुक्ति की अवधारणाएँ तब स्वयं ही द्रवित होकर उसी में समाविष्ट हो जाती है। इस शैवी अनुभव-साधना में जो घटित होता है उसे आचार्य अभिनवगुप्त अपने सुप्रसिद्ध *'अनुत्तराष्टिका स्तोत्र'* काव्य में स्वरूपतः निरूपित करते हैं—कि राग द्वेष या सुख और असुखवर्ग के भावों का उदय और अस्त होना, अंहकार एवम् दैन्य आदि जितना भी भावसमूह है वे सब विश्ववपु शिव के ही भिन्न भिन्न रूप होने के कारण स्वभावतः भिन्न नहीं होते। जब साधक या सिद्ध उस संवित्-शिव की भावना या ऐक्यानुभव से संपन्न होकर उन समस्त भावों की विभिन्न अभिव्यक्तियों को शिवता की ही छवियों के रूप में देखने लगता है तो उसे रसानुसन्धान होने लगता है। आधुनिक सन्दर्भ में महाप्राण निराला को अपने काव्यकर्म की प्रौढता के काल में श्याम की विभिन्न छवियाँ अपनी विभिन्नता को साथ लेकर भी ऐक्य-साधन करने लगी थीं और कवि की काव्य-संवित् शब्दात्मिका गीति के रूप में फूट निकली—

जिधर देखिए श्याम बिराजे
श्याम कुंज वन यमुना श्यामा श्याम गगन घन वारिद गाजै
श्याम बलाका शालि श्याम है श्याम विजय बाजे नभ बाजे।
श्रुति के अक्षर श्याम देखिए दीपशिखा पर श्याम निवाजै ।।
श्याम तामरस श्याम सरोवर श्याम अनिल छवि श्याम संवाजे।

प्रस्तुत गीतिका की संवेदना की पराकाष्ठा सागर की एक ऊर्मि की तरह उस समय आकाश को छूने की ओर बढ़ती है जहाँ नीले मेघों के बीच बन्दनवार बनाकर एक लय के साथ उड़ी जा रही श्वेत बकपंक्ति या बलाका भी अपने रूप रंग की पार्थिवता को छोड़कर श्यामा चेतना में बिना कुछ खोए तद्रूप हो उठती है। भारत के निगम और आगम की परम्परा के उपासकों की यही रससंवित् जब भी उमड़ने लगती है तो यह आधिभौतिक पदार्थों, आधिदैविक, दृष्टियों और आध्यात्मिक अनुभूतियों के साथ बिना छेड़छाड़ किए या बिना विक्षिप्त या व्यथित किए ही एक नूतन अधिभूत, अधिदैवत एवम् अध्यात्म की सृष्टि करने लगती है। यही उसकी चिरजीवन्तता और सनातनता का रहस्य रहा है। इसीलिए आचार्य अभिनव अपने समाधि-काव्य की एक पंक्ति से संकेत करते हुए कहते हैं—**"संविद्रूपमवेक्ष्य किं न रमसे तद्भावनानिर्भरः"** कि अरे भाई लोग! उस परासंवित् को, जो अस्तित्व-अनस्तित्व, अभिधेयत्व ज्ञेयत्व की प्रतीतियों ओर पदार्थों के भीतर से झांक रही है, उसको एक बार आत्मसात् करके क्यों नहीं जी लेते? यह जो माया है, अविद्या है यह आँख खुलने पर अद्वय चित् से अभिन्न ही है। अतः उस अनुत्तर अनुभूति में पूजा, पूजन, पूज्य के भेद की कोई गुंजाइश ही नहीं अथवा शाक्तों की दृष्टि में "**ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावनम्**" ही हो रहा हो तो सभी कुछ अपने स्व के अनुभव से स्वभाव में ही निर्मल हो उठता है। व्यर्थ के चिन्तनों का वहाँ कोई प्रयोजन ही नहीं। क्योंकि वास्तव में अनेकत्व एकत्व का विरोधी धर्म नहीं है, अपितु वह स्वयंप्रकाश संवित् का ही वैभव है। इसलिए यहाँ न द्वैत है, न द्वैताद्वैत है, न विशिष्टाद्वैत है। *परमार्थचर्चा स्तोत्र* में अभिनव कहते हैं कि सृष्टि में ग्राह्य, ग्रहण एवम् गृहीता का विभाग शिवाभिन्न शक्ति के वैचित्र्य के कारण उसी का सहज सौन्दर्य बन कर स्फुरित होने लगता है। इसी द्वैत एवम् अद्वैत की ग्रन्थि को सुलझाने के लिए आचार्य अभिनव अपने काव्य में कई बार जिन प्रतिमानों को उत्कीर्ण करते हैं उनमें एक है—मणिदर्पणविधि; जिसका उल्लेख आचार्य शंकर ने भी अपने *दक्षिणामूर्ति स्तोत्र* की प्रथम पंक्ति में किया है—"**विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी तुल्यं निजान्तर्गतम्**"। अभिनव कहते हैं कि परमार्थता की दृष्टि खुलते ही शिव का जगत् से भेद, जीव का शिव से भेद, अथवा शिव, जीव, जगत् को लेकर किए जाने वाले जितने भी भेदभाव हो सकते हैं, वे सभी अविरोधी होकर स्वच्छ संवित् रूपी मुकुर या दर्पण में ऐसे ही अन्वित हो जाते हैं जैसे एक ही स्वच्छ प्रकाश वाले दर्पण में एक साथ ही बाह्य जगत् के प्रासादभवन, उन भवनों में स्थित हाथी, घोड़े, मेघ, समुद्र, पर्वत आदि विविध पदार्थ अपनी विविधता को बिना त्यागे एक साथ प्रतिबिम्बित होते हुए प्रतिबिम्बों के रूप में उस दर्पण की ही विभूति होते हैं।

आदर्शकुक्षौ प्रतिबिम्बकारि सबिम्बकं स्याद् यदि मानसिद्धम् ।
स्वच्छन्दसंविन्मुकुरान्तराले भावेषु हेत्वन्तरमस्ति नान्यत् ।।

क्रमस्तोत्र में आचार्य का कहना है कि एक बार शिवता के समावेश हो जाने पर पशुता के कारण दिखाई दे रही बन्धनमयी सांसारिकता की स्थिति को शिवता के काव्य की आग्नेय ज्वाला से रसमय बनाकर जब समस्त भाव-सृष्टि को मैं पीने लगता हूँ तो मैं परम सुख की अनुभूति से मदमत्त हो जाता हूँ| क्योंकि उस

समय मेरे स्व या आत्म के स्फार या उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रसार से अनन्त वैचित्र्य की महिमा प्रकट होने लगती है—

विधुन्वानो बन्धाभिमतभवमार्गस्थितिमिमाम्
रसीकृत्यानन्तस्तुतिहुतवहप्लोषितभिदाम्।
विचित्रस्वस्फारस्फुरितमहिमारम्भरभसात्
पिबन्भावानेतान् वरद मदमत्तोऽस्मि सुखितः ॥ 5 ॥

वास्तव में आचार्य अभिनवगुप्त की शिव-संवित्-साधना या रसानुभूति की प्रक्रिया जब आरम्भ होती है तो सहृदय के प्राण गणपति के रूप में, अपान बटुक के रूप में तथा समस्त इन्द्रिय रूप देवियाँ अपने अपने विषयभोगों की पूजा-सामग्री को लेकर हृदयकमल में स्थित आत्मलिंग रूप चिन्मय भगवान् आनन्दभैरव का अभिपूजन करने आती हैं तो योगी का अवधान या ध्यान ही अपनी 'धी' या धारणा-शक्ति के बल से सद्गुरु बनकर शिवपथ का द्वार खोल देता है। बुद्धि अपने निश्चयरूप कुसुमों को लिए हुए ब्रह्माणी शक्ति बनकर आनन्दभैरव-भैरवी के आराधन के लिए पहुँच जाती है। अहंकृति शाम्भवी अम्बा बन जाती है और सदा विकल्प करने वाला मन कौमारी शक्ति, तथा शब्दरूपा वाणी वैष्णवी शक्ति में रूपान्तरित हो जाती है। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि की सभी शक्तियाँ आनन्द भैरव-भैरवी के पूजागृह में आकर सभी सहृदयों के हृदयों में सदा सन्निहित अनुभव के साररूप रस को आपस में मिलकर या समरस होकर अभिव्यक्त करने लगती हैं। आचार्य अभिनव की चेतना का रंगमंच रसानुभूति का पूजागृह है जहाँ प्रविष्ट होने से शैवीभावना के हिमस्रोत-जल से सर्वमलनिवारक स्नान करके श्रद्धानदी के विमल चित्तरूप अभिषेक-जल को लेकर और समाधिरूप कुसुमों का अञ्जलि-पुट बनाकर, रसानुभूतिरूप अपने ही स्वरूप-संवित् के साथ ऐक्यानुसन्धान के लिए हमें चलना होगा। क्योंकि आचार्य के मत में रसानुभूति के मधुपात्र में किसी भी प्रकार के ऐन्द्रिक बोध, मानसबोध एवम् अतीन्द्रियबोधों की वर्जना या निषेध का विधान नहीं है।

भारतीय जीवन-साधना में, कला-साधना में, रस प्रत्येक पदार्थ में प्रतीयमान होने वाला एक ऐसा सार है जो सदा ही एक नवीन से नवीनतर होती जा रही ऊर्जा को मधुर उत्तेजना या सौष्ठव-संपन्न रूप में परिणत कर देता है। आचार्य अभिनव कहते हैं कि यह आनन्दानुभूति, धनमद, मद्यमद, अंगनासंगमद जैसी नहीं है। यहाँ जो प्रकाश की भी कल्पना है वह प्रदीप, सूर्य या चन्द्रमा के प्रकाश जैसी नहीं है। अपितु जन्मजन्मान्तर से चले आ रहे मलिन सुख-भोग की सहस्रों वासनाओं के बोझ के उतर जाने का सुख है। इसके साथ ही अपने ही अज्ञान-तिमिर या मेघों में छिपे हुए अपने ही विस्मृत स्व के शरच्चन्द्र का किसी मौन वनान्तर के निर्मल निशीथ में आविर्भूत हो उठना है (दे. *अनुत्तराष्टिका,* श्लोक 4)

वास्तव में आचार्य अभिनवगुप्त के अभिमत दर्शन के अनुसार शब्द की संपूर्ण सृष्टि प्रतिभा का ऐसा खेल है जो न तो लौकिक या भूत पदार्थों के संसरण या स्फुरण से निर्मित है, न ही अभौतिक या अतिभौतिक

दिव्यता का रहस्यात्मक चमत्कार है; वह तो शब्द के भीतर से होकर स्फुरित होने वाली शब्द-संवित् की लोकालोकमयी सृष्टि है—

माये विद्ये मातृके मानिनि त्वं काये काये स्पन्दसे चित्कलात्मा।
.....ध्यायेयं त्वां वाचमन्तर्नदन्तीम् ।। *(रहस्य पञ्चदशिका, श्लोक 8)*

वहाँ शब्दों का अर्थों से जो सम्बन्ध है वह भी वाच्य कोटि का भौतिक पद-पदार्थ सम्बन्ध नहीं, अपितु काव्यधर्मिता से स्फुरण होने वाला व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध सहृदय सामाजिक के अनुशीलन का विषय बनकर उसके प्राण और मन को वाक् में प्रतिष्ठित कर देता है और वाक् सहृदय के मन-प्राण को जब अपने में अभिसूत्रित कर लेती है तो अभिनव कहते हैं—"कि समाधिकाव्य के कवि के मुख से जो भी शब्द उच्चरित होता है वह लोकोत्तर मन्त्र हो जाता है। सुख तथा दुःख के अनुभव से होने वाली संस्थितियाँ सुख-दुःख न रहकर मुद्रा का रूप धारण कर लेती हैं। अपनी स्वरसता में से उठता हुआ प्राणों का प्रवाह अद्भुत योग में परिणत हो जाता है। इस प्रकार शक्तितत्त्व के परमधाम यानी वर्ण, पद और मन्त्र का अनुभव करते हुए ऐसा क्या रह जाता है जो हमें प्रकाशमयी सृष्टि में नहीं ले जाता।"

उस प्रातिभ मन्त्र में वर्णक्रम या पदों का क्रम संलक्षित नहीं होता, संपूर्ण कायिकी या शरीर की क्रियाएँ विगलित होकर आनन्द-मुद्रा का प्रादुर्भाव हो उठता है। योग की वह अवस्था प्रकट हो जाती है जहाँ प्राण का समग्र प्रवाह ही चुक जाता है। अतः हे भगवति प्रतिभे! तुम्हारे धाम में पहुंच जाने पर सुधी जन को कौन से वैलक्षण्य का अनुभव नहीं हो जाता (दे. *अनुभवनिवेदनस्तोत्रम्* 3, 4)। इस प्रकार आचार्य अभिनव के स्तोत्रकाव्य के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि शैवसाधना में क्रमशः बाह्योपायसाधना से आन्तर उपायसाधना के चरम शिखर पर्यन्त यानी अनुपाय-पर्यन्त पूजन-सामग्री एवम् साधन-प्रक्रिया के अंग रूप विभावादिकों में शिवता की भावना, एवम् दृढ़ से दृढ़तर होते हुए समावेश के बल से जब अन्तःकरण में महासाहसवृत्ति का उदय होता है तो बिना किसी अवरोध के सहसा घटित हुए चमत्कार या उन्मेष से स्वरूपलाभरूप रस उच्छल हो उठता है। अतः शैवों और शाक्तों की दृष्टि से देखें तो वहाँ आपको मिलेगा कि साधना-मण्डल में जो कुछ भी सामग्री या क्रियाकलाप हैं वे सभी समावेश अथवा दृढ़तर भावना के बल से शिवदृष्टि का उन्मेष होने पर शिवरूपता में आप्लावित होकर रस-दीप्त होने या जगमगाने लगते हैं।

इसी महानुभव को एक लघुकायरूप भारतीय कलाएँ अथवा काव्य जब अभिव्यक्त करने लगते हैं तो बात स्पष्ट हो जाती है कि शैवसाधनाक्रम शिव की विभिन्न कलाओं के माध्यम से अखण्डयोग प्राप्त करने की विधि या क्रम है। उसमें योगसाधनाओं की कठोरता एवम् इन्द्रियनिग्रह आदि अनावश्यक हो उठते हैं। क्योंकि जब सर्वसाधारण लौकिक सुखों का अनुभव करते हुए भी शिवता के उन्मीलन से आत्मानन्दकला का रस उठता है तो अभिनव कहते हैं कि अपनी शिवता में अधिक समादर हो जाने से इन्द्रिय-भोगलालसा में तब

आदर विगलित होता चला जाता है, उसमें विरक्ति स्वाभाविक होती चली जाती है। उलटे बलपूर्वक इन्द्रियों का निग्रह करने से कई बार कई प्रकार की विकृतियाँ जन्म लेने लगती है—

अनादरविरक्त्यैव गलन्तीन्द्रियवृत्तयः।
यावत्तु विनियम्यन्ते तावत्तावद्विकुर्वते । *(मालिनीविजयवार्तिक 2-112)*

इस प्रकार शिवदृष्टि रसदृष्टि के समावेश से तरंगित हृदय वाले सामाजिक की द्वैत अथवा द्वैताद्वैत की सांसारिक वासनाओं को नष्ट करने का कुचक्र नहीं रचती, अपितु, 'सर्वं शिवमयम्' की अनुभूति से शेष समस्त अनुभूति-पुञ्ज को समरस कर देती है; जहाँ अन्य किसी वेद्यान्तर का स्पर्श संभव ही नहीं। इसी एक क्षण को पाकर रूपान्तरित होने के लिए पिछले सहस्राधिक वर्षों से भारतीय कलासाधनाएँ यत्नशील रही हैं तथा मूल कृतिकार की रसदृष्टि को उन्मिषित करने के लिए ही नट-नटी आदि पात्र तथा सहृदय सामाजिक अपनी अपनी सीमा-मर्यादाओं में रहते हुए भी ऐक्यसाधन के लिए प्रयत्न करते हैं।

इस पत्र को प्रस्तुत करते समय मेरी दृष्टि इस ओर रही है कि प्राचीन वैदिक एवम् उपनिषद् सम्बन्धी मन्त्र-काव्य में रस शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है जिसका सम्बन्ध मूलतः आर्ष बोध से रहा है। भले ही वह कृतिकार में उठा हो या सहृदय में । आचार्य भरतमुनि ने जिस नाट्य अथवा काम के सन्दर्भ में प्रस्तुत रस शब्द का प्रयोग किया है वह सन्दर्भ पौराणिक है। इस पौराणिक सन्दर्भ को भरत ने संभवतः परम्परा की बाध्यता के कारण वैदिक परम्परा से जोड़ने का प्रयास निम्न पद्य में किया है—

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतिमेव च
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।। — *नाट्यशास्त्र, 1-17*

पूर्वकालिदास प्रोफेसर, संस्कृतविभाग,
पञ्जाबविश्वविद्यालय
आवास- 1605 सेक्टर 44 बी,
चण्डीगढ़-160044
फोन- 0172-2600041

ब्रह्म और कर्म

आचार्य गुलाब कोठारी

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

सृष्टि पूर्णता का ही पर्याय है। इसमें ब्रह्म ही पूर्ण नहीं, जीव भी पूर्ण है। पिता-पुत्र ही तो है। '**पिता वै जायते पुत्रः।**' पिता भी पूर्ण है, पुत्र भी पूर्ण है। गागर भी पूर्ण है, सागर भी पूर्ण है। पिता सूर्य भी पूर्ण है, औषधि-प्राणी वर्गादि सभी पूर्ण हैं। सूर्य प्रकाश है, आत्मा है, तब उसकी सन्तानें भी प्रकाश हैं। प्रकाश ही साक्षी भाव है। यही '**अहं ब्रह्मास्मि**' है। यही जीवन का रहस्य है। *गीता* इस दृष्टि से समर्पण भाव का, साक्षी भाव का शास्त्र ही है।

आत्मा के दो धातु हैं-ब्रह्म और कर्म। सम्पूर्ण विक्रम का सिद्धान्त ब्रह्म से जुड़ा है। जो कुछ भी प्रकृति में चल रहा है, जिस पर हमारा नियंत्रण संभव नहीं है, वही विकर्म है. ब्रह्म है। शेष कर्म के कर्ता और अकर्ता-दो भाग हो जाते हैं। कर्म का आधार कामना और कामना का आधार ज्ञान कहा गया है। ज्ञान कहते हैं विद्या को और अज्ञान नाम है कर्म का। इसी तरह कर्म और अकर्म की भूमिका स्पष्ट है। कर्म में व्यक्ति का कर्ताभाव युक्त रहता है। अकर्म में कर्म तो रहता है, किन्तु कर्ताभाव नहीं होता। अतः अकर्म को ब्रह्म का पर्याय माना गया है। कृष्ण कह रहे हैं कि सभी कर्म मुझको ही अर्पित कर दो। तुम कर्ता मत बनो। कृष्ण तो यह भी कहते हैं कि 'हमारा अधिकार मात्र कर्म करने तक है, फल भोगने पर भी है, किन्तु फल पर अधिकार नहीं है।'

कर्म जीवन का पर्याय है। इससे मुक्त नहीं रहा जा सकता। यहाँ तक कि संन्यासी को भी कर्म तो करना ही पड़ता है। समाधि भी कर्म ही है। शंकर कर्म का विरोध करते हैं। कृष्ण कर्ताभाव का विरोध करते हैं। अकर्म का अर्थ भी कर्म छोड़ना नहीं है, कर्ताभाव का त्याग ही है। शंकर जिसे माया कहते हैं, वह कर्म ही है। ब्रह्म में कर्ताभाव नहीं है। सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म का कर्म ही तो है। तब ज्ञानी कर्म के बाहर नहीं रह सकता। शंकर कर्म को असत्य कहना चाह रहे है । कहते हैं कि ज्ञानी के लिए कोई कर्म नहीं है। कर्ताभाव मिटाने पर उनका जोर नहीं है। यह स्पष्ट ही है कि यदि कर्म नहीं है, तो कर्ता भी नहीं रहेगा। कृष्ण कहते हैं कि कर्ता को जाने दो, कर्म भी चला जाएगा।

माया तो ब्रह्म का ही अंग है। इससे इनकार कैसे किया जा सकता है। जाग्रत् है, स्वप्न भी है, तो सुषुप्ति भी है। अस्तित्व को नकार नहीं सकते। माया तो कर्म ही है। '**नाहम् प्रकाशं सर्वस्य**...।' और शंकर कर्म को अज्ञान कह रहे है, बन्धन बता रहे हैं। संसार में रहकर कर्मों से मुक्त रहो। इसको एक अर्थ में सही भी ठहराया जा सकता है। थोड़ी देर के लिए यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य योनि में भिन्न क्या है? क्यों बनी मनुष्य योनि? कर्म करने के लिए? कर्मफल रूप 84 लाख योनियों को भोगने के लिए? और यदि कर्म करें ही नहीं तो? न कर्म, न कर्मफल, न कोई अन्य योनि प्राप्त होगी। तब मानव योनि स्वयं भी भोग योनि रह जाएगी। मुक्ति के सारे मार्ग ठहर जाएँगे। ज्ञान और भक्ति की सार्थकता खो जाएगी। वैसे भी बिना कर्म के ज्ञान भी विष हो जाता है। भक्ति भी मन का, भावों का कर्म ही है। कर्म यदि न रहे, तब 84 लाख योनियाँ किसके लिए? यह विश्व, यह स्वर्गादि किसके लिए? होंगे भी या नहीं? कर्म है तो ही विश्व है। विश्व परमात्मा का कर्म ही तो है।

ब्रह्म सत्य, जगन्मिथ्या। सत्य यानी कि जो कल भी था, आज भी है और कल भी रहेगा। विश्व में सत्य भी रहेगा और असत्य भी। सत्य के होने का आधार असत्य ही है। परिवर्तन को शास्त्रों ने नित्य कहा है, यानी सत्य कहा है। सत्य और असत्य विरोधी तत्त्व नहीं है। एक है वहाँ दूसरा नहीं होता। असत्य, जो नहीं है, जबकि सत्य है। सत्य ब्रह्म है, असत्य माया है। माया भी ब्रह्म की तरह सत्य ही है। ब्रह्म की शक्ति है। बिना माया को समझे ब्रह्म को भी को भी समझना कठिन है। कर्म के मार्ग से ही ब्रह्म को समझा जा सकता है। जीव तो कर्म का प्रतिनिधि ही है। कर्म फल भोगने के लिए ही जीव शरीर धारण करता है। फल नहीं हों, तो जीव भी ईश्वर ही है। कर्म ही दो जीवों को एक-दूसरे से अलग करते हैं। बिना कर्म के सारे जीव समान हो जाएँगे।

गीता में कृष्ण अकर्म की बात करते हैं। अकर्म को हम पूर्णता के मन्त्र से समझ सकते हैं। शुक्ल यजुर्वेदियों के शान्ति पाठ का मंत्र है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

अर्थात्—व्यापक ब्रह्म अपने आप में पूर्ण है। फल प्राप्त होने पर ही कर्म की पूर्णता है। अतः ब्रह्म और कर्म दोनों में पूर्णता है। कर्म की पूर्णता फल पर्यन्त मान ली जाए, किन्तु ब्रह्म की पूर्णता कैसे मानी जाए। तब पण्डित मधुसूदन ओझा जी लिखते हैं कि यदि कर्म की पूरी पूर्णता को हटा लिया जाए तो ब्रह्म की पूर्णता ही रह जाएगी। फलयुक्त कर्म की व्यापकता ने कर्म को पूर्ण बना रखा है। फल को युक्त न करके किया हुआ कर्मबन्धन नहीं होता। यही कर्म की अपूर्णता कहलाती है। तब कर्म ब्रह्ममय हो जाता है। यही ब्रह्म की पूर्णता होगी। सृष्टि से पहले भी ब्रह्म पूर्ण था, सृष्टि अवस्था में भी पूर्ण है। उस पूर्ण ब्रह्म से ही पूर्ण जगत् निकाला गया है। शेष जो बचा वह भी पूर्ण ही रहेगा। अर्थात् जो कर्म पूरा न होकर ब्रह्म कहलाया वही अकर्म है। इसमें कर्ता न रहा। कर्ता का होना ही कर्म है।

कर्म मनुष्य योनि की विशेष सुविधा है, जो इसको भोग योनियों से भिन्न करता है। कर्म होगा तो कर्ता होगा, फल होगा। भोग योनियाँ होंगी। कर्म होगा, कर्ताभाव नहीं होगा, वह अकर्म हो जाएगा। बन्धन नहीं होगा। उदाहरण के लिए पेड़ को ही देखें। बीज वपन के बाद अंकुरण भी कर्म है। पेड़ बनना, फूल-फल धारण करना भी कर्म है। इस सम्पूर्ण कर्म शृंखला में कर्ता कौन है? क्या इसका एक पत्ता दूसरे पत्ते से भिन्न नहीं है? प्रत्येक पत्ते का स्वतंत्र भाग्य नहीं है। कोई कीट एक ही पत्ते को क्यों खाता है? उसके पास वाले को क्यों नहीं? क्या यह कर्म सत्यता नहीं है? फल ही कर्म की सत्यता है। हर कर्म का फल है। प्रत्येक पत्ते को स्वतः उसकी खुराक प्राप्त होती है। वहाँ पर कर्म ही नहीं है। कर्ता नहीं है। चूंकि मनुष्य इस स्वतः प्रक्रिया से तुष्ट नहीं होता, वह अधिक प्राप्ति के लिए कर्म करता है, माया अथवा अविद्या के प्रभाव में-विद्या के प्रभाव में, कर्म करता है। प्रकृति की व्यवस्था को चुनौती देता है। अतः इन कर्मों के फल रूप समस्याएँ ही पैदा कर लेता है। यही उसका कर्ताभाव है। मूल में वह भी अश्वत्थ वृक्ष का पत्ता ही है। उसका अहंकार उसे विशेष बना देता है।

मूल में सिद्धान्त यह भी है कि कर्म ही बाँधता है, कर्म ही बाँधा जाता है और कर्म की ही कर्मान्तर से ग्रन्थि पड़ती है। कर्म और ग्रन्थि भी मरणशील (बल) ही है। उत्क्रमण करता हुआ वायु जैसे जल में पूरी तरह बाँध दिया जाता है, फेन रूप में भासित होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में कर्म का पूर्णतया बन्धन कर दिया जाता है। यही विश्व रूप है।

विश्व को चलाने के लिए कर्म आवश्यक है। प्रत्येक पदार्थ की अपनी-अपनी अशनाया (इच्छा) रहती है। सब अपने-अपने प्रयत्न से अपना-अपना अन्न खाते हैं। इस इच्छा का आधार भी ज्ञान रूप ब्रह्म ही है। दोनों अविनाभाव रहते हैं। इसी क्रम से तो जड़-चेतन रूप विश्व का विकास होता है। सृष्टि क्रम में कर्ताभाव नहीं होता, अतः कर्म अस्पष्ट रहता है।

कृष्ण जब गीता में कहते हैं—**'कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन...।'** कृष्ण स्वयं अवतार हैं और कर्म के उद्देश्य से ही आए थे। 'परित्राणाय साधुनां....।' यही लक्ष्य था। कृष्ण पूर्ण थे, लक्ष्य भी पूर्ण था (कर्म), किन्तु कर्ताभाव नहीं था। कह गए 'मामेकं शरणं व्रज।'

गीता एक ओर सृष्टि के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या करती है, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति और प्रकृति के समन्वय, एकरूपता को सिद्ध करती है। कृष्ण कहते हैं—'ममैवांशो जीवलोके' और यह भी कहते हैं कि—'देहिनां हृद्देशे तिष्ठति।' दो बातें क्या एक ही अर्थ रखती हैं? जीव आत्म का अंग है। आत्मा का ही दूसरा अंश ईश्वर है। इन्हीं को द्वा सुपर्णा कहा है। ईश्वर और जीव दोनों ही वैश्वानर-विराट् संस्था से निर्मित होते हैं। वैश्वानर भी कृष्ण ही हैं—**'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहामाश्रितः।'**

हृदय भिन्न संस्था है। किसी भी वस्तु या प्राणी की आकृति से पूर्व उसका केन्द्र (ऋक्) ही बनता है, आकृति परिधि कहलाती है। केन्द्र ही उक्थ है। उसी को ऋग् भी कहते हैं। परिधि साम तथा मध्य क्षेत्र यजुः

कहलाता है। केन्द्र को हृदय कहा गया है। यह अक्षर प्राण, ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र की समष्टि है। हृदय से परिधि पर्यन्त होने वाली प्राणों की गति-आगति ही वस्तु की स्वरूप स्थिति को व्यवस्थित रखती है। इसी हृदय में अव्यय पुरुष की पांचों कलाएँ-आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् की स्थिति रहती है। ये प्राण ही हृदय रूप में विस्तार पाते हैं। प्राण ही अक्षर सृष्टि है। वाक् से क्षर सृष्टि का निर्माण होता है। अक्षर की ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र इन तीनों कलाओं तथा अग्नि-सोम मिलकर आगे की सृष्टि का निर्माण करते हैं।

इस हृदय के केन्द्र में कृष्ण हैं। ब्रह्मा एवं इन्द्र के साथ विष्णु हैं। वैसे तो ब्रह्मा के जनक भी विष्णु हैं। अक्षर सृष्टि कारण है, क्षर भाग स्थूल सृष्टि है। प्रत्येक स्थूल के हृदय में कारण रूप कृष्ण हैं। तब एक ही प्रश्न पैदा होता है कि 'मैं' कौन हूँ। इसका उत्तर भी एक ही है—'मैं' ही कृष्ण हूँ। **अहं ब्रह्मास्मि।** अर्जुन ने गीता सुनी, कृष्ण को समझा

और कृष्ण को अपने भीतर ही पा लिया। अर्थात् स्वयं कृष्ण ही हो गया। इसका मूल अर्थ हुआ कि ब्रह्माण्ड का प्रत्येक प्राणी ही कृष्ण है। जैसा कि कृष्ण ने कहा- 'मैं अर्जुन हूँ।', वैसे ही कहा कि मैं 'वासुदेव' हूँ। सम्पूर्ण सृष्टि के केन्द्र में कृष्ण का होना प्रमाणित हो जाता है। कृष्ण ही ब्रह्माण्ड रूपी अश्वत्थ हैं और सभी प्राणी उसके फल-फूल-पत्ते हैं। सम्पूर्ण विश्व एक-दूसरे भाग का अभिन्न अंग है। कोई किसी से अलग किया भी नहीं जा सकता। सबको अपने-अपने हिस्से का पोषण भी स्वतः ही मिलता रहता है। न संघर्ष करना पड़ता है, न ही कोईं करना होता है। हर पत्ते का स्वरूप व्यवस्थित बना रहता है।

कोई भी पेड़ अपना मूल खोजे तो उसका बीज पीछे के किसी पेड़ से आया होगा। इसी तरह पीछे से पीछे चले तो परमात्मा तक पहुंच जाएँगे। क्योंकि सभी का आत्मा षोडशी है। पंचकोशात्मक है। स्थूल भी है, सूक्ष्म भी है। दोनों की स्वतंत्र वृत्तियाँ भी हैं और संहित भाव में भी हैं। सूक्ष्म चेतना भाग कूटस्थ है, हृदय रूप है, अक्षर प्राण है। मूल में अक्षर सृष्टि ही सेतु है अमृत और मर्त्य लोकों के मध्य का। इसीलिए सूर्य मंत्र में 'निवेशयन्न मृतं मर्त्यंच' आता है। सूर्य हमारा आत्मा है। सूर्य से ही वैश्वानर अग्नि का अस्तित्व है। इसी विराट् अग्नि से ईश्वर और जीव संस्था का निर्माण होता है। ये दोनों ही आत्मा के युगल रूप हैं। 'द्वा सुपर्णा' हैं।

आत्मा का केन्द्र अव्यय पुरुष है। अव्यय मन ही सृष्टि का केन्द्र है, कृष्ण है। श्वोवसीयस मन कहलाता है। जब मुक्ति साक्षी होता है मन, तब माया के बन्धन खुलते जाते हैं। जो कृष्ण स्वयं को अव्यय कह रहे हैं, वे भी 'पुर' के मायाभाव का संकोच दूर होते ही 'परात्पर' रूप हो जाते हैं। ब्रह्म अलग, माया अलग। यहाँ परात्पर अद्वैत कहलाता है। दो नहीं, किन्तु दो के संदर्भ में एक है। जब माया भी सुप्त हो जाए तो निर्विशेष रूप में 'अद्वय' दो नहीं हो जाता है। अहं ब्रह्मास्मि भी यहाँ लीन हो गया। अष्टावक्र कहते हैं— *'स्वस्वरूपेऽहमद्वये।'* अपने ही स्वरूप में। जहाँ सृष्टिपूर्ण था, पूर्ण महासमुद्र में। अर्थात् स्थूल से अतिसूक्ष्म तक की सारी स्थितियाँ हमारे अस्तित्त्व से जुड़ी हैं। प्रत्येक कर्म के स्वरूप के अनुसार इनका अनुभव होता रहता है। कर्ताभाव अलग, अकर्म अलग, समर्पण भिन्न, विद्या और अविद्या का प्रभाव बदलता रहता है।

अमृत और मृत्यु मन के ही व्यापार हैं। मन विचित्र संस्था है। अनन्त रूप हैं मन के। चंचल भी है। न अतीत में टिकता है, न अनागत में। वर्तमान को तो छूता तक नहीं है। तब मन स्वयं अपने स्वरूप को भी नहीं जान पाता। यही अर्जुन की मनःस्थिति थी। इस स्थिति से उबरने के लिए गीता बन गई। लक्ष्य तो अर्जुन को जाग्रत् करना ही था। उसे स्वरूप को स्पष्ट करना ही था कि 'तू कौन है।' यही जीवन का प्रथम और अन्तिम प्रश्न होता है। जब तब उत्तर नहीं मिलता, माया भ्रमित करती रहती है। जब उत्तर मिल जाता है, तब प्रश्नकर्ता स्वयं शेष नहीं रहता।

जीवन का सारा द्वन्द्व यही है। कामना ही चलाती है जीवन को। एक कामना होती है ईश्वर की तथा दूसरी कामना जीव की होती है। दोनों की दिशाएँ भी भिन्न होती हैं। ईश्वर प्रकृति के सहारे कार्य करता है। उसका अपना एक तंत्र है, नियम है, कर्मानुरूप फल हैं। प्रकृति देश-काल से परे है। व्यक्ति जो करता है, वह अविद्या के वश रहता है। अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश में व्यक्ति का मिथ्या दृष्टि का आधार अधिक बलवान् होता है। उसका अहंकार परिस्थितियों को स्वीकार करने नहीं देता। प्रकृति को एक के बाद दूसरी चुनौती देता रहता है। विद्या-धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य-अविद्या के आगे निर्बल हो जाते हैं। उसका कर्ता भाव, फलासक्ति हावी रहते हैं। यही विषाद का हेतु है। अपेक्षा जब पूर्ण नहीं होती, तब विषाद होता है। विषाद की निरन्तरता ही अवसाद बन जाती है।

जीवन का मूल टकराव अविद्या के कारण ही होता है। कृष्ण कह रहे हैं—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**' कर्म का अधिकार व्यक्ति का है, कर्म फल भोगने का अधिकार भी उसका है। फल क्या होगा तथा कब आएगा, यह प्रकृति के साथ (तंत्र में) चलता है। इसीलिए तो व्यक्ति को बार-बार जन्म लेना पड़ता है। जब फल मेरे नियंत्रण में नहीं है, जैसे भविष्य मेरे नियंत्रण में नहीं है, तब मुझे उसकी प्रतीक्षा क्यों करनी चाहिए? अपेक्षा क्यों रखनी चाहिए?

एक महत्वपूर्ण बात कृष्ण ने कह दी है—'**ममैवांशो जीवलोके...।**' कौन कह सकता है यह बात! वासुदेव कृष्ण नहीं कह सकते। त्रेतायुग में अष्टावक्र ने भी नहीं कही। केवल परात्पर ही यह घोषणा कर सकता है। वही अव्यय पुरुष के केन्द्र में बैठा है। वही सबका आत्मा बनता है। आत्मा के भी दो धातु हैं—ब्रह्म और जीव। कृष्ण यह भी कहते हैं—'**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (*गीता*-18-61)। तब यह भी निश्चित हो गया कि ईश्वर और जीव, आत्मा के दोनों पक्ष कृष्ण ही हैं। वही साक्षी हैं, वहीं कर्ता और भोक्ता हैं। व्यक्ति स्वयं एक प्रतिबिम्ब मात्र है। माया का भ्रम जाल है। अव्यय पुरुष की कलाएँ भी माया है। अक्षर और क्षर प्रकृति रूप ही हैं। प्रकृति में जो शेष बचा वही परात्पर पुरुष रूप में लीला करता है। कर्म उसके होने की अभिव्यक्ति है। कर्म भी पूर्ण हैं अतः विश्व भी पूर्ण अभिव्यक्ति है ब्रह्म की। कर्म रूप में कर्ता भी विश्व में उपलब्ध है और फल रूप भोग योनियाँ भी विश्व में समाहित हैं।

माया के आवरण अभ्यास से हटाए जा सकते हैं। अष्टावक्र इन अर्थों में कृष्ण से भी आगे की बात कह रहे हैं। ये कहते हैं-करने को कुछ है ही नहीं। साक्षी भाव मुक्ति है। यह जानने भर की देर है कि मुक्त ही हूँ। बोध ही मुक्ति है। कृष्ण ने अर्जुन को प्रेरित किया 'स्व-स्वरूप' में प्रतिष्ठित करने को। समझ न पाया। विराट् स्वरूप प्रकट किया। अन्त में अर्जुन बनकर लड़ा। अपने भीतर बैठे कृष्ण तक फिर भी नहीं पहुंच पाया। कृष्ण बनकर-अद्वैत भाव में स्थित होकर नहीं किया युद्ध। अष्टावक्र ने जीव और ईश्वर का स्वरूप भीतर ही बताते हुए कहा—पुरुषार्थ मोक्ष तक जाता है। शुद्ध चैतन्य अवस्था मोक्ष के भी पार है।

न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि।
बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्ट्या न किञ्चन ॥ — 256

न स्वर्ग, न नरक, न मोक्ष। तब क्या बचा? पुरुष का पुर भाव भी गया। माया की परिधि का द्वार खुला, परात्पर मुक्त हुआ-पुरुष ही नहीं बचा।

कृष्ण ठहर जाते हैं—'समर्पण' पर। '**मामेकं शरणं व्रज**।' उसके बाद ईश्वर की इच्छा पर ही सारे कर्म होने दें। बन्द अपने अहंकार के प्रयास। तू क्षत्रिय है, युद्ध कर, स्वर्ग को जा अथवा अपयश भोगेगा। यही नरक होगा। समर्पण होने पर वही होगा, जो मैंने तय कर लिया है। मैं इन सभी को मरा हुआ देख रहा हूँ। तू मारेगा नहीं, मारने में निमित्त मात्र होगा। तेरा बीच में होना ही बाधा है। या तो तेरी कामना से कर्म होगा, या मेरी कामना प्रभावी होगी। तू मेरी कामना को समर्पित हो जा। सारा तेरा कर्म अकर्म (ब्रह्म) हो जाएगा। भीतर भी ब्रह्म और बाहर भी ब्रह्म। तू जान जाएगा कि कर्म ही धर्म है। कर्म ही ब्रह्म है। जैसे प्रत्येक तत्त्व अर्द्धनारीश्वर है, ब्रह्म भी है। सृष्टि का मूल प्राण-विष्णु रूपी अग्नि प्राण भी प्रसरण एवं संकुचन युक्त है। यह भी सत्य है कि जहाँ व्यक्ति कर्ता है, वहाँ ईश्वर नहीं है। व्यक्ति हटा और ईश्वर प्रकट हुआ।

प्रधान सम्पादक
राजस्थान पत्रिका समूह
केशरगढ़, जयपुर
राजस्थान।

उपनिषदों में आनन्द का स्वरूप

कुलदीप शर्मा

भारतदेश में 356 मिलियन जनसंख्या 10 से 24 वर्ष के युवाओं की है।[1] युवाओं की दृष्टि से सर्वाधिक जनसंख्या भारत देश में है। युवा देश के निर्माणकर्ता है, पर वर्तमान में बुराईयाँ उनको दीमक की तरह खा रही है। आत्महत्या के आंकड़े गगन को छू रहे है।[2] अल्पपरिस्थिति में आत्महत्या करना स्वभाव बनने लगा है। इन सबका कारण आनन्द को भौतिक वस्तुओं की चकाचौंध में खोजना है। ऐसा आनन्द जो मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है, जिसे संसार की कोई भी परिस्थिति या सुख और दुःख की अवस्था प्रभावित नहीं कर सकती। अतः आनन्द के वास्तविक स्वरूप को जानना आज की आवश्यकता बन गयी है।

'आनन्द' शब्द 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'नन्द्' धातु 'घञ्' प्रत्यय से व्युत्पन्न होता है। आनन्द शब्द के साथ अच् प्रत्यय का विधान करके ब्रह्म अर्थ को बताया जाता है। ब्रह्म शब्द नपुसंकलिंग का रूप है। आनन्द शब्द में अच् प्रत्यय करने से वह भी नपुसंकलिंग का रूप बन जाता है, जिससे 'आनन्दं ब्रह्म' की अर्थ संगति बैठ जाती है। वेदों और उपनिषदों में आनन्द के विभिन्न स्वरूप प्राप्त होते है। वेदों में कर्मकांड से प्राप्त सुख यथा अन्न पशु आदि का वर्णन मिलता है। उपनिषदों में सामान्य रूप से दो तत्त्व प्राप्त होते है। ब्रह्म और आत्मा। आत्मा मनुष्य की आन्तरिक चेतना का नाम है। ब्रह्म समस्त बाह्य जगत् का चरम स्रोत है। इन दोनों के एकाकार से जो सुखद एवं शिवद अनुभूति होती है, वही औपनिषदिक आनन्द है, जिसमें न सुख को खोने का भय है, न दुःख आने का भय है।[3]

उपनिषत्काल में कर्मकांड का विरोध करते हुए विभिन्न मत प्रस्तुत किये गए है। इस काल के पूर्व में यज्ञों का शाब्दिक अर्थ लिया जाता था परन्तु अब वह लाक्षणिक अर्थ में प्रसिद्ध होने लग गया। यथा *बृहदारण्यकोपनिषद्* के प्रथम तथा द्वितीय ब्राह्मण में अश्वमेध-यज्ञ वर्णन में अश्व के स्थान पर सम्पूर्ण जगत् को त्याग करना बताया है। उपनिषत्काल में कर्मकांड के द्वारा प्राप्त हुए सुख को त्याज्य बताया गया है। जो मूढ़ कर्मकांड से सुख की आशा करता है उसे बारम्बार जरा मृत्यु का दुःख प्राप्त होता है।[4] इस काल के विभिन्न आख्यानों में हम पाते है कि ब्रह्मज्ञान उसी पात्र को दिया जाता है जो शारीरिक सुख तथा स्वर्गिक सुख की इच्छा नहीं करता है। जो संसार की अनित्यता को ध्यान में रखकर अपने कर्तव्यों के निभाता है वही ब्रह्मज्ञान का पात्र है। यथा—

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः। — *कठोपनिषद्, 1 /1 /6*

उक्ति संसार की अनित्यता को प्रकट करती है। संसार में अपने कर्तव्य को पूरा करना चाहिए, क्योंकि खेती की तरह मनुष्य जन्म लेता है तथा मर जाता है और पुन: उत्पन्न हो जाता है।

पारमार्थिक आनन्द को समझने के लिए सुख के विविध स्तरों की चर्चा आवश्यक है। पारमार्थिक आनन्द के स्वरूप को समझने के लिए हमें लौकिक सुख तथा पारलौकिक सुख को समझना होगा तथा आनन्द इनसे भिन्न है यह समझना होगा। इसमें प्रथम है—

लौकिक सुख

सांसारिक मनुष्य दो प्रकार से सुख का अनुभव करता है। जब उसे बाहरी वस्तुओं या स्थितिविशेष से सुख मिलता है तब उसे बाह्य-सुख का नाम दिया जाता है।

(क) बाह्य सुख—*कठोपनिषद्* में यमराज के द्वारा प्रदत्त लोभ में शतायु, पुत्रपौत्रादि, बहुपशुयुक्त, बहुभूमियुक्त होना बाह्य सुख को प्रकट करता है।[5] बाह्य सुख के विषय में यमराज कहते है कि मनुष्य दो प्रकार के मार्ग पर चलता है, श्रेय तथा प्रेय। प्रेय मार्ग का अनुसरण करने वाला मनुष्य विविध प्रकार के प्रयोजनों में बंध जाता है। प्रेयमार्ग भोगों में आसक्त कर देता है। प्रेय मार्ग लौकिक सुखों का प्रतिनिधित्व करता है। मंदमति प्रेय मार्ग पर चलता रहता है। जिससे लौकिक सुख और दु:ख को भोगता रहता है।[6] ये दोनों मार्ग एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न है। तथा एक दूसरे से विपरीत फल देने वाले है।[7] अतिथि सत्कार भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। अतिथि दुत्कार आशाएँ (अज्ञात पदार्थों की इच्छाएँ), प्रतीक्षाएँ (ज्ञात पदार्थों की इच्छाएँ), इन दोनों के संयोग से प्राप्त फल, अच्छी वाणी से प्राप्त फल आदि का नाश कर देता है।[8] अर्थात् अतिथि-सत्कार करने से आशाएँ, प्रतीक्षाएँ, इनसे प्राप्त फल और अच्छी वाणी से प्राप्त फल प्राप्त होते है।

मुण्डकोपनिषद् में कर्मफल को भोगने के कारण जीव को परमात्मा से भिन्न बताया है। परन्तु जीव परमात्मा से संयुक्त है। जीव अपने किये हुए कर्मों के आधार पर सुख दु:ख की प्राप्ति करता है, परन्तु परमात्मा भोक्ता न होकर द्रष्टा मात्र है।[9] जीव अपने दीनस्वभाव के कारण मोह से लौकिक सुख-दु:ख की प्राप्ति करता है, परन्तु जिस समय जीव अपने से विलक्षण परमात्मा तथा उसकी महिमा को देखता है तब वह शोकरहित हो जाता है।[10] परमात्मा के साक्षात्कार से जीव के पाप और पुण्य दोनों का नाश हो जाता है। जिससे निर्मल और अत्यन्त समता वाले स्वभाव को प्राप्त हो जाता है।[11] कामनाएँ जीव के लौकिक सुख-दु:ख का कारण है। जब तक जीव कामना के बन्धन में फँसा हुआ रहता है तब तक उसका जन्म होता रहता है, यदि जीव आत्मज्ञान की इच्छा से युक्त है तो उसकी कामनाएँ (जो लौकिक सुख-दु:ख का कारण) इस लोक में ही लीन हो जाती है। ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है। जो पुरुष उस ब्रह्म को बुद्धि रूप परम आकाश में स्थित जानता है वह व्यक्ति एक साथ सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता ही।[12] जो व्यक्ति अन्न को ब्रह्म मानते हुए उपासना करता है उसे सम्पूर्ण अन्न प्राप्त हो जाता है।[13] जो प्राण को ब्रह्म मानते हुए उसकी उपासना करता है, वह पूर्ण आयु को प्राप्त कर लेता है।[14]

(ख) आन्तरिक सुख—इस सुख का सम्बन्ध अन्तरिन्द्रय मन से है। लोक में यह देखा जाता है की मनुष्य बाह्य सुख के रहते हुए भी दुःखी रहता है, परन्तु कभी बाह्य सुख के अभाव में सुखी भी रहता है। इस प्रकार आन्तरिक सुख बाह्य सुख से भिन्न है। जैसे नचिकेता यमलोक में रहते हुए भी पिता की प्रसन्नता या अप्रसन्नता से प्रभावित रहता है। इसलिए वह प्रथम वर पितृ–परितोष का मांगता है। वाजश्रवा की प्रसन्नता तथा क्रोध–रहित होना ही नचिकेता का सुख है।[15] आन्तरिक सुख के लिए आन्तरिक दुःख का अभाव होना आवश्यक है। दुःख का कारण बंधन है। माया के अधीन रहते हुए जीव भोक्तृ भाव के कारण बंधन को प्राप्त करता है। परमात्मा का ज्ञान होने पर वह सब पाशों से मुक्त हो जाता है। परमात्मा का ज्ञान होने पर अविद्या से उत्पन्न समस्त क्लेश नष्ट हो जाते है। क्लेश जन्म तथा मृत्यु और आन्तरिक दुःख और दुःख का कारण है। इनके नष्ट होने पर जन्म तथा मरण और दुःख भी समाप्त हो जाते है। *श्वेताश्वतरोपनिषद्* में आन्तरिक सुख योग की प्रथम सिद्धि के रूप में बताया गया है जिसमें शरीर का हल्कापन, नीरोगता, विषयासक्ति की निवृत्ति, शारीरिक कान्ति की उज्ज्वलता स्वर की मधुरता, सुगंध और मलमूत्र की न्यूनता प्राप्त होती है।[16]

जगत् में स्थित समस्त प्राणी उस पूर्ण ब्रह्म के अंश है। अतः सम्पूर्ण जगत् में जो स्थावर और जंगम पदार्थ है उनमें ईश्वरभाव का अनुभव करना चाहिए। इस स्थिति में यदि कोई व्यक्ति किसी के धन की इच्छा करता है तथा त्याग रहित जीवन जीता है तो वह ईशभाव के उस आनन्द से वंचित रहकर मानसिक दुःख को प्राप्त करता है। संसार के पदार्थों से प्राप्त सुख या दुःख क्षणिक है। यदि कोई व्यक्ति ईशभाव से पदार्थों का त्यागभाव से उपभोग करता है, तो वह आन्तरिक रूप से सुखी हो जाता है।[17] जगत् में देखा जाता है कि मनुष्य एक दूसरे से घृणा करते है जिसके कारण वे दुःखी दिखाई देते है। इस दुःख को दूर करने का उपाय सार्वात्म्यदर्शन है। जब कोई व्यक्ति समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा में स्थित देखता है तथा उनमें अपनी आत्मा को देखता है तब वह घृणाभाव से मुक्त हो जाता है। वह सब जगह अपनी आत्मा को देखते हुए आन्तरिक सुख को प्राप्त करता है।[18] मोह और शोक दोनों एक दूसरे के विपरीत है। किसी वस्तु के स्थित रहने पर मोह उत्पन्न होता है। शोक किसी वस्तु के अभाव में उत्पन्न होता है। परन्तु जिस व्यक्ति के लिए सब भूत आत्मा ही हो गए है। वह सब जगह एकत्व का ही दर्शन करता है, उस व्यक्ति के लिए न तो किसी वस्तु के लिए शोक होता है और न मोह होता है।[19] एकत्वदर्शन से ममत्व और परत्व का भेद मिट जाता है। जो आन्तरिक दुःख का प्रधान कारण है।

2. पारलौकिक सुख

जब मनुष्य के सुख का आधार इस संसार में न होकर स्वर्ग आदि लोक में हो जाता है तब उसे पारलौकिक सुख कहते है। *कठोपनिषद्* में नचिकेता का द्वितीय वर स्वर्गिक सुख से सम्बन्धित है। स्वर्ग में रोगादि, वृद्धावस्था, मृत्यु, भूख प्यास, शोक का अभाव पाया जाता है। वहां मुदिता की प्राप्ति होती है। यमराज नचिकेता को सांसारिक लोभों के अलावा स्वर्गिक लोभ भी देता है जहाँ रथयुक्त तथा वाद्ययुक्त

अप्सराएँ तथा अप्राप्य सुख है।[20] [21] ऐसे स्वर्ग की प्राप्ति यज्ञीय अग्नि से होती है। उस अग्नि का चयन करने से यजमान अमरत्व को प्राप्त करते है।[22] जो यजमान इस अग्नि का तीन बार चयन करता है, उसे त्रिणाचिकेत कहते है। वह माता, पिता, आचार्य से सम्बन्ध प्राप्त करके जन्म और मृत्यु को पार कर देता है। अर्थात् इन तीनों से शिक्षा प्राप्त करके यज्ञ, अध्ययन, दान कर्मों को करने वाला जन्म-मृत्यु पार कर लेता है। यह कर्म का फल है। ब्रह्म से उत्पन्न ज्ञानवान् और स्तुत्य देव को जानकर शान्ति प्राप्त कर लेता है।[23] यही ज्ञान और कर्म का समन्वय है। ऐसा त्रिणाचिकेत देहपात के पूर्व ही मृत्यु के बन्धनों को तोडकर शोक से पार हो जाता है। और स्वर्ग लोक में सुख प्राप्त करता है।[24] नचिकेता अनुपयोगी दक्षिणा को ऐसे लोक प्राप्ति का कारण मानता है जो सुख से रहित है। अर्थात उपयोगी और श्रद्धा से दी हुई दक्षिणा ऐसे लोक की प्राप्ति करवाती है जहाँ सुख हो।

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है, जो व्यक्ति अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज, अध्यात्म नामक महासंहिताओं को जानता है वह प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज अन्न और स्वर्गलोक की प्राप्ति करता है।[25] जो व्यक्ति कामना से रहित श्रोत्रिय है उसे मानव आनन्द से लेकर ब्रह्म आनन्द पर्यंत सभी आनन्द प्राप्त रहते है।

सत्य से देवयानमार्ग का विस्तार होता है। वही सत्य विजेता बनाता है। ऋषिगण सत्य के द्वारा ऐसे पद की प्राप्ति करते है जहाँ सत्य का परम भंडार है।[26] विशुद्धचित्त आत्मवेत्ता के लिए समस्त लोक और भोग प्राप्य हो जाते है।[27] यदि कोई पुरुष अग्निशिखाओं में यथासमय आहुतियाँ देता है तो उसे देवताओं के स्वामी का लोक प्राप्त होता है।[28] जो व्यक्ति यज्ञ के साधनों को ही श्रेय मानकर प्रसन्न होता है अर्थात ज्ञानरहित कर्म करता है तो, वह संसार के जन्म-मृत्यु से मुक्त नहीं हो पाता है।[29] अविद्या में रहते हुए अपने आप को बुद्धिमान् मानते हुए मूढ़ पुरुष अन्धे से ले जाये हुए अन्धे के समान पीड़ित रहते हुए भटकते रहते है।[30] जिनका कर्मफल में राग रहता है वे कर्मफल क्षीण होने पर स्वर्ग से च्युत हो जाते है। इष्ट और पूर्त कर्मों से भले ही स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है परन्तु कर्मफल का क्षय होने पर पुनः निकृष्ट लोक प्राप्त होता है।[31] इसलिए पारलौकिक सुख को त्याज्य बताया गया है। विविध यज्ञ आदि कर्मों से जो स्वर्ग आदि फल मिलता है वह स्थायी नहीं है अतः अविद्या के उपासकों को घोर अन्धकार प्राप्त होता है। परन्तु जो कर्म न करते हुए मात्र विद्यामार्ग का ही अवलम्बन करते है उनको उससे अधिक अन्धकार की प्राप्ति होती है।[32] ज्ञान और कर्म का समन्वय ही आनन्द प्राप्ति में सहायक है। ज्ञान और कर्म के फल में परस्पर भेद है। इन दोनों का जीवन में उपयोग होना चाहिए। जो व्यक्ति इन दोनों को एक साथ जानता है वह अग्निहोत्रादि कर्म से मृत्यु को पार कर पारलौकिक सुख को प्राप्त करता है, और ज्ञान से अमृत को प्राप्त कर लेता है।[33] वह अमृत पारलौकिक सुख का साधन है।

उपनिषद् में इन सभी सुखों को त्याज्य बताया गया है। *कठोपनिषद्* में आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए नचिकेता इन सबका तिरस्कार कर देता है। वह कहता है—ये सभी अस्थायी है, तथा मनुष्य की इन्द्रियों की

शक्ति का नाश कर देते है। जीवनकाल बहुत ही अल्प है और ये सभी साधन बहुत है अतः अपने लोभ अपने पास ही रखिये।[34] मनुष्य धन से कभी भी संतुष्ट नहीं हो सकता है।[35] इस प्रकार के तर्क प्रलोभन की नींव को जर्जर कर देते है। वास्तव में भौतिक पदार्थ क्षणिक, जीवन के नाशक, अनित्य है। इनमे आसक्ति स्वयं को जानने में बाधा पहुँचाती है। इनसे अच्छा यमराज का सांनिध्य है, जो अजर और अमर, देव है। अंत में नचिकेता अपने आत्म विषयक प्रश्न पर दृढ रहता है। वर्तमान समय में भौतिकता की अधिकता के कारण मानव दुःख संतप्त है। वह हर क्षण सुख की खोज में रहता है। इसका लाभ उठाकर तथाकथित ढोंगी उन लोगों के साथ छल करते है। अतःजितनी अधिक भौतिकता पैर पसार रही है, उतनी ही अधिकता आत्मतत्त्व विषयक ज्ञान की हो रही है। आज ऐसे वेत्ताओं की नितांत आवश्यकता है। आत्मा अणुप्रमाण से भी सूक्ष्म है। इसका ज्ञान न तो तर्काधीन है न स्वयं के अधीन है।[36] इसका थोडा सा ज्ञान, तथा स्वयं के द्वारा किया गया विवेचन भी पर्याप्त नहीं है। हमारे समक्ष यम तथा नचिकेता आदर्श के रूप में प्रकट होते है। नचिकेता जैसी बुद्धि तर्क के द्वारा प्राप्य नहीं है। आज का समाज तर्कप्रधान है। वह हर तत्त्व को तर्क की कसौटी पर परखना चाहता है। सुख सुविधा की प्राप्ति में उसकी प्रसन्नता ही प्रमाण है। उनमे न्यूनता दो प्रकार के स्थिति को जन्म देती है। एक स्थिति उन सुखों को पुनः प्राप्त करना दूसरी एक ऐसी स्थिति प्राप्त करना जो सुख सुविधाओ से परे हो, नचिकेता दूसरी स्थिति में है। आत्मतत्त्व नित्यतत्त्व है। उसकी प्राप्ति अनित्य पदार्थों से नहीं हो सकती है। जब मनुष्य कष्टसाध्य, गूढ़, सभी पदार्थों में प्रविष्ट, हृदय गुहा में स्थित, नित्य आत्मतत्त्व को जान लेता है तब हर्ष तथा शोक से मुक्त हो जाता है।[37] उसी आनन्द की चर्चा आगे की गयी है।

पारमार्थिक आनन्द

उपनिषदों में आनन्द का ही विशेष वर्णन किया गया है। जो सुख तथा दुख से भिन्न है। यथा- *तैत्तिरीयोपनिषद्* की *ब्रह्मानन्दवल्ली* के अष्टम अनुवाक में आनन्द को इस प्रकार समझाया गया है।

साधुस्वभाव वाला नवयुवक, वेद पढ़ने वाला, अत्यन्त आशावान्, अत्यन्त दृढ, बलवान और सम्पूर्ण धन धान्य से युक्त पृथ्वी का स्वामी होना एक मानव का आनन्द है।

सौ मानवों के आनन्द के बराबर एक मनुष्य गन्धर्वों का आनन्द है। मनुष्य गन्धर्वों के जो सौ आनन्द है वह एक देवगन्धर्वों का आनन्द है। देवगन्धर्वों के सौ आनन्द के बराबर एक पितृगण का आनन्द है। जो पितृगण के सौ आनन्द है वह आजानज देवताओं का एक आनन्द है। जो आजानज के सौ आनन्द है वह एक आनन्द कर्मदेव देवताओं का है। कर्मदेव के जो सौ आनन्द है वह देवताओं का एक आनन्द है। देवताओं के जो सौ आनन्द है वह इन्द्र का एक आनन्द है। इन्द्र के जो सौ आनन्द है वह बृहस्पति का एक आनन्द है। बृहस्पति के जो सौ आनन्द है वह प्रजापति का एक आनन्द है। प्रजापति के जो सौ आनन्द है वह ब्रह्म का एक आनन्द है। इस प्रकार ब्रह्म का आनन्द समस्त आनन्दों में श्रेष्ठतम है। ब्रह्मानन्द को मन तथा वाणी अनुभव नहीं कर सकते है। जीव ब्रह्मानन्द को पाकर कभी भयभीत नहीं होता है।

यह आनन्द रस से सम्बन्धित है। यह जगत् पहले असत् था, उसी सत् ने स्वयं अपने को ही रचा था, इसलिए वह सुकृत नाम से जाना गया। वह सुकृत ही रस है[38], उस रस को पाकर पुरुष आनन्दयुक्त हो जाता है। यह आनन्द ही हृदय के आकाश में रहते हुए प्राणादि क्रिया करता है। यही प्राणियों को आनंदित करता है। यदि इसमें कोई भेद देखता है तो भय को प्राप्त हो जाता है। यदि अभेद देखता है तो अभय से युक्त होकर आनंदित हो जाता है। ब्रह्मानन्द के आनन्द से आनन्दित 'मैंने शुभकर्म क्यों नहीं किया पाप कर्म क्यों किया' इस प्रकार की चिंता से संतप्त नहीं होता है। उनको सिर्फ अपने पाप और पुण्यों का कारण मानता है वह विद्वान् अपनी आत्मा को प्रसन्न और सबल बना लेता है।

इसी तरह आनन्द का सम्बन्ध ॐकार से है। ॐकार ही समस्त जगत् है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान ॐकार की ही व्याख्या करते है। इसके अतिरिक्त जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ॐकार ही है।[39] वही ॐकार ब्रह्म है। वही ब्रह्म आत्मा है। आत्मा के चार पाद (अंश) बताये गए है। चार अंशों में प्रथम अंश 'वैश्वानर' है, जो जाग्रत् अवस्था में अभिव्यक्त होता है। यह संसार के स्थूल विषयों(स्रक, वनितादि) का भोग करता है, इसलिए यह बहिष्प्रज्ञ है।[40] द्वितीय अंश तैजस है जो स्वप्न अवस्था में अभिव्यक्त होता है। यह अंश मन के भीतर रहता है। यह सूक्ष्म विषयों का भोग करता है, इसलिए यह अन्तःप्रज्ञ है। इस अवस्था में बुद्धि मन के स्फुरण मात्र बाह्यविषयों से सम्बन्धित संस्कार उत्पन्न करती है। इस अवस्था में सूक्ष्म विषयों (वासना मात्र प्रज्ञा) का भोग होता है।[41] तृतीय अंश प्राज्ञ है, जहाँ न तो जाग्रत् अवस्था के समान स्थूल भोग की इच्छा होती है न ही स्वप्न के समान सूक्ष्म भोग की। यह अंश सुषुप्ति अवस्था में अभिव्यक्त होता है। यह हृदयाकाश में स्थित रहता है। इस अवस्था में एकीभूत प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप होने से आनन्द की प्राप्ति होती है[42,43] इसलिए यह अंश आनन्दमय, आनन्द का भोक्ता, चेतनारूप मुख वाला होता है। इस अवस्था में मन का स्फुरणरूप द्वैतसमूह प्रपंच के सहित अज्ञान से आच्छादित हो जाता है। स्वप्न और जागरण प्रज्ञान घनीभूत हो जाते है इसलिए इसको घनप्रज्ञ कहा जाता है। मन का अपने विषयों से संयोग के कारण सुखदुःख की प्राप्ति होती है परन्तु यहाँ सुखदुःख का अभाव होकर आनन्द की प्राप्ति होती है। स्थूल, सूक्ष्म, आनन्द इन तीन भोगों को क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ भोगते है। इस तीनों अंशों से जो अतिरिक्त है वह तुरीय है। वह अन्तःप्रज्ञ, बहिष्प्रज्ञ, उभयतः प्रज्ञ, प्रज्ञाघन, प्रज्ञ, अप्रज्ञ, नहीं है। वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपंच का उपशम, शान्त, शिव, अद्वैतरूप है। वही जानने योग्य है। विश्व और तैजस कार्यकारण से बन्धे हुए है परन्तु प्राज्ञ केवल कारण अवस्था से बद्ध है। तुरीय दोनों अवस्था से मुक्त है।[44] प्राज्ञ अपने और पराये तथा सत्य और असत्य को नहीं जानता है परन्तु तुरीय सर्वदा सर्वदृक् है। इन दोनों अवस्था में द्वैत का अभाव रहता है। प्राज्ञ में बीजस्वरूप निद्रा रहती है जिससे आनन्द का अनुभव रहता है। परन्तु तुरीय में उस निद्रा का अभाव रहता है। तुरीय अवस्था में पारमार्थिक आनन्द रहता है, यह अवस्था आनन्दमय है, जो निद्रा के अभाव में विशुद्ध रहता है।

ईशोपनिषद् के शांतिपाठ में तथा *बृहदारण्यकोपनिषद्* परब्रह्म तथा कार्यब्रह्म को पूर्ण बताया गया है। कार्यब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् आच्छादित है।[45] अतः जीव भी पूर्ण स्वरूप है। उसमें स्थित आत्मा अपने स्वरूप से अविचलित, इन्द्रियों से अप्राप्य, मन से भी तीव्र गति वाला, स्थिर होते हुए भी समस्त गतिशील पदार्थों का अतिक्रमण करने वाला, वह अन्दर है और बाहर भी ऐसी अनेक विशेषताओं से युक्त है।[46] उसका सब जगह दर्शन करने वाला व्यक्ति जगत् से प्राप्त सुखदुःख की और ध्यान नहीं देता है। वह ऐसे आनन्द को प्राप्त करता है जो आत्मा में स्थित है। पूर्णता से प्राप्त से आनन्द जो सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट, स्वयंभू आदि विशेषताओं से युक्त आत्मतत्व में रहता है।[47] उस आनन्द से वंचित व्यक्ति सुख और दुःख प्राप्त करता है। वह सुख और दुःख के चक्र में फंसता रहता है। इसके लिए लिए अव्यक्त प्रकृति तथा कार्यब्रह्म की उपासना में भेद समझना आवश्यक है। इन दोनों का भिन्न-भिन्न फल होता है। इन दोनों का समन्वय होना आवश्यक है, मात्र एक की उपासना या एक में आसक्त रहने से अमृत की प्राप्ति असम्भव है। अव्यक्त प्रकृति तथा कार्यब्रह्म दोनों के समुच्चय को जानना अनिवार्य है। जिससे व्यक्ति मृत्यु को पार करके अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।[48] यही अमरत्व आनन्द है।

इस उपनिषद् के पन्द्रहवें मंत्र में सत्य के मुख को ज्योतिर्मय पात्र से आच्छादित बताया गया है। वही सत्य ब्रह्म है, जो आनन्दस्वरूप है। उसका अनावरण सत्यधर्म का पालन करने वालों के लिए ही होता है। वह सत्यस्वरूप ब्रह्म और आत्मा एक है। सत्यधर्म का पालन करने से पूषण देवता उसको अनावृत कर देते है जिससे व्यक्ति उसी में लय हो जाता है।[49] वही सत्य आनन्द स्वरूप है। आनन्द जब इच्छाओं की सीमाओं में बंधन को प्राप्त कर लेता है तब सुख व दुःख में परिवर्तित हो जाता है।[50] इस आनन्द का जीवात्मा के साथ अद्वैतत्व उपनिषदों का लक्ष्य है। **'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मा अस्मि' 'अयं आत्मा ब्रह्म' 'सोऽहं'** आदि महावाक्य आनन्द के स्वरूप को प्रकट करते है। वही ब्रह्म सगुण व निर्गुण में विभाजित हो जाता है, यथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दम् ब्रह्म' सगुणत्व का प्रतिपादन करते है। निर्गुण ब्रह्म जो अक्षर, निर्विकल्प, निरुपाधि है, जिस के कथनों का 'नेति नेति' वाक्यों से निषेध होता है। 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः' उस आनन्द की स्थिति है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति'उस अवस्था में भय के अभाव को प्रकट करती है।[51] माण्डूक्योपनिषद् 'ॐकार' में तुरीय अवस्था को आनन्द स्थान बताता है।

मुण्डकोपनिषद् के द्वितीय खंड में प्रकाशस्वरूप ब्रह्म को हृदय में स्थित बताया गया है।[52] यह ब्रह्म ही सत्य तथा अमृत है।[53] इस अमृत को प्राप्त करने के लिए प्रणव रुपी धनुष पर आत्मा रुपी बाण को चढाकर लक्ष्य करना चाहिए। जिस प्रकार बाण अपने लक्ष्य के साथ तन्मय हो जाता है उसी प्रकार आत्मा की प्रतीति को भूलकर अमृतमय हो जाना चाहिए।[54] यह आत्मा ही अमृत का साधन है। जिसके द्वारा प्राणी ब्रह्म के अमृत को प्राप्त कर सकता है। इस आत्मा में समस्त लोक तथा प्राणों के सहित मन ओतप्रोत रहता है। इसलिए व्यक्ति को सुखादि का त्याग करके आत्मा को ही जानना चाहिए।[55] अज्ञान में अवस्थित जीव का कल्याण नहीं हो सकता है, अज्ञान में विघ्नों की संभावना प्रबल रहती है, इसलिए आत्मा का ध्यान करते हुए

अज्ञान के उस पर जाना चाहिए।[56] विवेकी पुरुष जब आत्मा का विज्ञान कर लेता है, तब उसे आनन्दस्वरूप अमृत ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। वही आनन्दस्वरूप आत्मा हृदय में अवस्थित रहती है। परन्तु जब तक प्राणी उसका विज्ञान नहीं कर लेता है तब तक अमृतस्वरूप आनन्द को प्राप्त करना अशक्य है।[57] जब उस अमृतस्वरूप परापर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, तब जीव की हृदयग्रन्थि टूट जाती है। जिसके कारण समस्त संशय नष्ट होकर कर्मक्षीण हो जाते है।[58] वही आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही आगे है, वही पीछे है, वही दायीं-बायीं है, वह ब्रह्म ही नीचे ऊपर विस्तृत है। यह सारा संसार आनन्दयुक्त ब्रह्म ही है।[59] आनन्दस्वरूप आत्मा को इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता है, न हीं तप तथा कर्मों से, अपितु इसकी प्राप्ति के लिए ज्ञानप्रसाद से जनित विशुद्ध चित्त की आवश्यकता होती है। विशुद्ध चित्त ही आनन्द को प्राप्त कर सकता है।[60] आनन्दस्वरूप आत्मा की इच्छा करने वाला ही उसे प्राप्त कर सकता है।[61] ऐसा जीव जिसने परब्रह्म को जान लिया है वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। वह शोकादि से तर जाता है। वह पाप से मुक्त हो जाता है। वह हृदयग्रंथि से विमुक्त होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है।[62] शांत और विद्वान् व्यक्ति तप और श्रद्धा का सेवन करते हुए पापरहित होकर अमृत और अव्ययपुरुष को प्राप्त कर लेते है।[63] परा विद्या से ही अक्षर की प्राप्ति होती है।[64]

इसी प्रकार *कठोपनिषद्* में आनन्द स्वरूप आत्मा का वर्णन करते हुए यमराज सर्वप्रथम ॐकार का उपदेश करते है। यह अक्षर ही ब्रह्म, परम है। जो इस अक्षर को जान लेता है, वह अपने इच्छानुसार फल को प्राप्त करता है। ॐकार के आलम्बन से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। अतः यह यह आलम्बन ही सर्वश्रेष्ठ है। ॐकार साध्य आत्मा न कभी उत्पन होती है, न कभी नष्ट होती है। इसको न कोई उत्पन्न करता है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुराण है, यह शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होती है। आत्मा को मरा हुआ समझाना अथवा मारने वाला समझना आत्मा की समझ में नासमझ है। आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म से लेकर महान् से महत्तम वस्तुओं में व्याप्त है। यह जीव के हृदय गुहा में स्थित है। ब्रह्म जब जीव पर कृपा करता है तब ही निष्काम वीतरागी मनुष्य आत्मा को जान पाता है। यह सोता हुआ भी सर्वत्र चला जाता है। आसीन होते हुए भी दूर चला जाता है। मनुष्य इस आत्मा को अशरीरी तथा अन्य शरीर पर निराश्रित विभु तथा महान गुणों से युक्त जान लेता है, तब वह परमानन्द शोक नहीं करता है। वह आनन्द की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। आत्मा का ज्ञान न प्रवचन पर आश्रित है न मेधा शक्ति से, न बहुत ज्यादा उपदेश सुनने से। यह जिसका वरण करती है वही यक्ति जान सकता है। दुश्चरित्र, अशांत, असावधान, चंचल मन वाला मनुष्य प्रज्ञाशील होते हुए भी आत्मातत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने अशक्त रहता है। जिस आत्मा का ज्ञान एवं बल दोनों ओदन के समान हो। मृत्यु जिसकी रुचिकर घृत के समान हो, भला उस आत्मा के स्थान को कौन जान सकता है? जीवात्मा तथा परमात्मा धूप तथा छांव की तरह समान है। इनको कर्म करते हुए अछे फल प्राप्त करवाते हुए ही आत्मा को जाना जा सकता है। गृहस्थ आश्रम में निवासी पंचाग्नि के उपासक पुण्य फल प्राप्त करते है। इस उपनिषद् में ज्ञान तथा कर्म का अति सुन्दर समन्वय मिलता है। बिना कर्म किये हुए ज्ञान प्राप्ति उचित नहीं है।

नाचिकेतास अग्नि दुःखमय संसार को पार करने का सेतु है। यह अग्नि मनुष्य को अभय प्रदान करती है। जीवन में यदि आत्मतत्त्व को जानना है तो आत्मा को रथी मानना चाहिए। शरीर रथ की तरह जो विविध कर्मो को पूर्ण करता है। बुद्धि शरीर की सारथी की तरह है जो शरीर पर नियंत्रण रखती है सारथी बिना लगाम के बिना रथ पर नियंत्रण नहीं रख सकता है। शरीर रूपी रथ पर लगाम मन है। इन्द्रियाँ इस रथ की अश्व की तरह है। जब इन्द्रिय, मन, आत्मा संयुक्त हो जाते है तब भोक्ता नाम से जाने जाते है। वस्तुतः आत्मा निर्लेप है तथापि उपाधि के के कारण भोक्ता के रूप में प्रयोग की जाती है। जो मनुष्य असावधान रहता है। उसकी इन्द्रियाँ दुष्ट अश्वों के वश हो जाती है। आज समस्त समस्याओं का मूल कारण यही है। स्वनियंत्रण हर क्षेत्र में आवश्यक है। जो मनुष्य सर्वदा सावधान होकर विवेक नहीं खोता है। उसका अपने आप पर नियंत्रण रहता है। वह अपनी शक्ति का पूर्ण उपयोग कर सकता है। आत्मज्ञान श्रमसाध्य कार्य है। उसको प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सर्वदा सावधान होकर पवित्र बनाना चाहिए। पवित्र मनुष्य ही संसार से मुक्त हो सकता है। स्वयं पर नियंत्रण बुद्धि में स्थित विवेक से होता है। मन में संकल्प तथा विकल्प की स्थिति सदा बनी रहती है। बुद्धि ही मन को सही दिशा देती है। ऐसा मनुष्य ही ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। विषयों से इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है। मन से भी बुद्धि तथा बुद्धि से भी आत्मा सूक्ष्म होती है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा तथा इन्द्रियाँ परस्पर भिन्न है।

महत्तत्त्व से भी अव्यक्त सूक्ष्मतर है। अव्यक्त से भी सूक्ष्मतर पुरुष होता है। पुरुष से भी परे कुछ नहीं है। वही ही सब जीवात्माओं के लिए पूर्ण गति है। पुरुष ही आत्मा होती है। यह सभी स्थान में छुपा हुआ रहता है। फिर भी प्रकाशित नहीं होता है। इसका साक्षात्कार तो सूक्ष्म दृष्टि से युक्त पण्डितों के द्वारा होता है। जो अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से देख पाते है। वह साधक सर्वप्रथम अपनी वाणी को मन में तथा मन को बुद्धि में तथा बुद्धिं को महत तत्त्व में तथा महततत्त्व को आत्मा में विलीन कर लेता है।

स्वामी विवेकानन्द ने इसआत्म तत्त्व की उपयोगिता को समझते हुए इस उपनिषद् का उद्धरण दिया था। 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' पंक्ति उस आत्म तत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देती है। आत्म तत्त्व को समझना तलवार की धार के समान कठिन है। इसलिए श्रेष्ठ पुरुषों की शरण में जाकर के आत्म तत्त्व को जानकर दूसरों को भी बताना चाहिए।

वर्तमान समय में व्यक्ति सुख-दुःख के द्वंद्व में फंसता जा रहा है। वास्तविक आनन्द के अज्ञान के कारण आज सुख के साधन में जीव भ्रष्ट हो चुके है। इसलिए भारतीय शास्त्र परम्परा के आनन्द को समझने की महती आवश्यकता है, जो धन, वस्तु, स्थितियों से परे है। इस शोध-पत्र में हमनें देखा की कैसे लौकिक सुख और पारलौकिक सुख आनन्द के समक्ष त्याज्य है। उपनिषत्काल कर्मकांड को चित्तशुद्धि तक सीमित रखकर ज्ञानकांड पर बल देता है। *बृहदारण्यक-उपनिषद्* में याज्ञवल्क्य भौतिक सुख को आनन्द से पृथक् करते है। *कठोपनिषद्* में भौतिक सुख को मात्र इन्द्रिय क्षीण करने वाला कहा गया है। इस दर्शन में मोक्ष को लक्ष्य माना

गया है, वही स्वर्गातीत आनन्द है। छान्दोग्योपनिषद् में आनन्द को तुरीय व अखण्ड बताया गया है। नारद अपनी आत्मजिज्ञासा को प्रकट करता है, जो भौतिक सुख व कर्मकाण्ड में अविश्वसनीय स्थिति का द्योतक है। *तैत्तिरीयोपनिषद्* में आत्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशों से आवृत है। इनमें आनन्द को पञ्चकोशों से भी सर्वोपरि माना है, तथा अव्यक्त अवस्था में ब्रह्म को आनन्द माना है जो निर्गुण व अव्यक्त है, इस अवस्था में मन सहित सब इन्द्रियों का अभाव हो जाता है, अतः वही आनन्द अव्यक्त व अननुभूत है।

सन्दर्भ

1. UNITED NATIONS: With 356 million 10-24 year-olds, India has the world's largest youth population despite having a smaller population than China,
2. About 800,000 people commit suicide worldwide every year,[2] of these 135,000 (17%) are residents of India,[3] nation with 17.5% of world population. Between 1987 and 2007, (wikipedia)
3. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति। – *तैत्तिरीयोपनिषद्*, 2 /4/1
4. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 1/2 /7
5. शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि।। — *कठोपनिषद्*,1 / 1 /23
6. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत- स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते।। — *कठोपनिषद्*,1 / 2 /2
7. दूरमेते विपरीते विषूचि अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। — *कठोपनिषद्*,1 / 2 /4
8. आशाप्रतीक्षे संगतसूनृतां च इष्टापूर्ते पूत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यास्यनश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे।। — *कठोपनिषद्*,1 / 1 /8
9. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 3/ 1 /1
10. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 3/ 1 /2
11. यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 3 /1/3

12. ब्रह्मविद् आप्नोति परम्। — *तैत्तिरीयोपनिषद्*, 2 /1/1

13. सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते। — *तैत्तिरीयोपनिषद्*, 2 /2/1

14. सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते। — *तैत्तिरीयोपनिषद्*, 2 /3/1

15. शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।। — *कठोपनिषद्*,1 / 1 /4

16. लघुत्वमारोग्यम्लोलुपत्वम्। *श्वेताश्वतरोपनिषद्*, 2-13।

17. ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।। — *ईशोपनिषद्*,1

18. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मनेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। — *ईशोपनिषद्*,6

19. यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।। — *ईशोपनिषद्*,7

20. इमाः रामाः सरथाः सतूर्याः न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रमत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।। —*कठोपनिषद्*,1 / 1 /25

21. स्वर्गे लोके न भयं किचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।। —*कठोपनिषद्*,1 / 1 /12

22. एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये।। —*कठोपनिषद्*,2 / 1 /13

23. त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति।। —*कठोपनिषद्*,1 / 1 /17

24. त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।। —*कठोपनिषद्*,1 / 1 /18

25. अधिलोक उपासक को संहिता में ऐसी दृष्टि रखनी चाहिए। संहिता का प्रथम वर्ण पृथिवी है ,अंतिम वर्ण द्युलोक है ,इनके बीच में आकाश है,वायु इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध करने वाला है। अधिज्यौतिष दर्शन के उपासक को संहिता के प्रथम वर्ण को अग्नि,अंतिम वर्ण द्युलोक,मध्यभाग में जल ,विद्युत् को सम्बन्ध करने वाला जानना चाहिए। अधिविद्य दर्शन के उपासक संहिता के प्रथम वर्ण आचार्य,अंतिम वर्ण आचार्य,विद्या संधि और प्रवचन को सम्बन्ध करने वाला जानना चाहिए। अधिप्रज दर्शन के उपासक को संहिता के प्रथम वर्ण को माता,अंतिम वर्ण को पिता,प्रजा को संधि,प्रजनन को सम्बन्ध करने वाला जानना चाहिए। अध्यात्मदर्शन के उपासक को संहिता के प्रथम वर्ण को नीचे का हनु अंतिम वर्ण ऊपर का हनु,वाणी को संधि,जिह्वा को सम्बन्ध करने वाला जानना चाहिए।

26. सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्ति ऋषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 3 /1/6

27. यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 3 /1/10

28. एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 1 /2/5

29. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतत् श्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 1 /2/7

30. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 1 /2/8

31. इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 1 /2/10

32. अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः। — *ईशोपनिषद्*,9

33. विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। — *ईशोपनिषद्*,11

34. श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।। — *कठोपनिषद्*,1 / 1 /26

35. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव।। — *कठोपनिषद्*,1 / 1 /27

36. नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा।। —*कठोपनिषद्*,2 / 1 /9

37. तं दुर्दशं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोको जहाति।। — कठोपनिषद्,2 / 1 /12

38. असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत।
तस्मात् तत् सुकृतमुच्यते। यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः।
रसं ह्येवायं लब्ध्वायऽऽनन्दी भवति। — *तैत्तिरीयोपनिषद्*, 2 /7/1

39. ओमित्येदक्षरंमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव।
यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तद्यप्योङ्कार एव।। — *माण्डूक्योपनिषद्*, 1.1

40. जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञ सप्ताङ्ग एवोनविंशतिमुखस्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः। — *माण्डूक्योपनिषद्*, 1.3

41. स्वप्न स्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुख। - *माण्डूक्योपनिषद्*, 1.4

42. यत्र सुप्तो न कञ्चन काम कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्।
सुषुप्तस्थान एकीभूत प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतो मुख प्राज्ञस्तृतीय पाद।। — *माण्डूक्योपनिषद्*, 1.5

43. जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकार प्रथमा मात्राप्तादेरादि मत्त्वादवाप्नोति ह य सर्वान्कामनादिश्च भवति स एव वेदः।
— *माण्डूक्योपनिषद्*, 1.9

44. सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारतृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एव वेद।।
— *माण्डूक्योपनिषद्*, 1.9

45. ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ शांतिपाठ, *ईशोपनिषद्।*

46. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः।। — *ईशोपनिषद्*, -5

47. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं अस्नाविँ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ — *ईशोपनिषद्*, -8

48. संभूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते।। — *ईशोपनिषद्*, -14

49. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नापावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। — *ईशोपनिषद्*, -15

50. तथा अक्षरात् विविधा सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 2 /1/1

51. यतो वाचो निवर्तन्ते.. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति। — *तैत्तिरीयोपनिषद्*, 2 /4/1

52. आविः सनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्।
एजत्प्राणनिमिषच्च यदेतज्जानथ सद्सद्वरेण्यम् परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 2 /2/1

53. यदर्चिमद्यदणुभ्योऽ णु च यस्मिंल्लोका निहिता लोकिनश्च। — *मुण्डकोपनिषद्*, 2 /2/2

54. प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 2 /2/4

55. वाचो विमुंचथामृतस्यैष सेतुः.। — *मुण्डकोपनिषद्*, 2 /2/5

56. अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं सवस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 2 /2/6

57. मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठतोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 2 /2/7

58. भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 2 /2/8

59. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 2 /2/11

60. न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्फलम् ध्यायमानः।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 3 /1 /8

61. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 3 /2/3

62. स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्या ब्रह्मवित्कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। - *मुण्डकोपनिषद्*, 3 /2/9

63. तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वान्सो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृताः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।। — *मुण्डकोपनिषद्*, 1 /2/11

64. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। — *मुण्डकोपनिषद्*, 1 /1/5

सहायक आचार्य (संस्कृत)
राजकीय कन्या महाविद्यालय
सवाई माधोपुर, राजस्थान
चलवाणी - 8824623617
kuldeepsharmajsw@gmail.com

सौरागमीयचर्या-विमर्श

प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

समस्त आगमिक परम्पराओं के आधारभूत तन्त्र-साहित्य में प्रत्येक आगम अपनी विषय वस्तु की दृष्टि से चार भागों में विभक्त है—ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्या (*पाद्मसंहिता*, ज्ञानपद 2/2)। इससे सुस्पष्ट है कि आगमों के आधारभूत विषय वस्तु का चर्या एक अनिवार्य अङ्ग है।

सूर्योपासना से सम्बन्धित सौरागमीयचर्या-पक्ष पर चर्चा आवश्यक है। चर्याविधान के अन्तर्गत दीक्षा, व्रत, नियम तथा प्रायश्चित्तादि विषय आते हैं। सूर्य का पर्यायवाची शब्द रवि है। इसलिए रविवार का अर्थ सूर्यवार है। सूर्य का व्रत रविवार को करने का विशेष विधान है। व्रत के दिन नमक निषेध सर्वथा निर्देशित है। सात्त्विक अन्न दिन में एक बार लेना चाहिए। फलाहार ले तो अति उत्तम है। व्रत संयम अति आवश्यक है।

दीक्षा-विषयिणी चर्चा के प्रसंग में *शारदातिलकतन्त्र* का कहना है—

सत्तीर्थेऽर्कविधुग्रासे तन्तुदामनपर्वणोः।
मन्त्रदीक्षां प्रकुर्वाणो मासार्क्षादीन् न शोधयेत्।।[1]

अगस्त्यसंहिता में भी कहा गया है—

सूर्यग्रहणकालेन समोऽन्यो नास्ति कश्चन।
तत्र यद् यत् कृतं सर्वमनन्तफलदं भवेत्।।
सिद्धिर्भवति मन्त्रस्य विनाऽऽयासेन वेगतः।
कर्त्तव्यं सर्वयत्नेन मन्त्रसिद्धिरभीप्सुभिः।।

तीर्थों और सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहण में मन्त्र-दीक्षा लेने के लिये कोई विचार न करे। सूर्यग्रहण के समान और कोई समय नहीं है। सूर्य ग्रहण में अनायास ही मन्त्र की सिद्धि हो जाती है। इन श्लोकों में मन्त्र शब्द यन्त्र का भी उपलक्षक है। इसका सारांश यह है कि ग्रहणकाल में मन्त्रों को जपने से तथा मन्त्रों को लिखने से विलक्षण सिद्धि होती है।

गणपत्युपनिषद् में भी लिखा है कि सूर्यग्रहण में महानदी अर्थात् गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों में या किसी प्रतिमा के पास मन्त्र जपने से वह सिद्ध हो जाता है—

सूर्यग्रहणे महानद्यां प्रतिमासंनिधौ वा जप्त्वा स सिद्धमन्त्रो भवति।[2]

बिहार में प्रचलित सूर्यषष्ठी व्रत ने आज विश्वव्यापी रूप ले लिया है। इसके ऊपर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है जो आदित्यहृदय की भाँति *भविष्यपुराण* के नाम से ही प्रोक्त है। किन्तु ये दोनों वर्तमान भविष्यपुराण में अनुपलब्ध हैं।[3]

मन्दार-षष्ठीव्रत माघ मास के शुक्ल पक्ष षष्ठी से आरम्भ होता है। इन्द्रिय संयम रखकर व्रत में पञ्चमी, षष्ठी तथा सप्तमी—इन तीनों दिनों में भगवान् भास्कर का आठों दिशाओं में पूजा, नमस्कार एवं प्रार्थना विभिन्न मन्त्रों से करने को कहा गया है।[4]

स्कन्दपुराण में मार्गशीर्षीय दशादित्य व्रत को उत्तम व्रत बताया गया है। भानु-सप्तमीव्रत माघमास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी तिथि को निर्दिष्ट है। इसके अर्क सप्तमी, अचला सप्तमी, रथ सप्तमी आदि बहुत नाम हैं। भानुसप्तमी के दिन तिल दान करने का विधान है।[5]

फाल्गुनमासीय अर्कपुटसप्तमी व्रत में प्रातः स्नानादि के अनन्तर 'ॐ खगोल्काय नमः'— इस मन्त्र से सूर्यनारायण का पूजन करना चाहिए। इससे सम्पूर्ण व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।[6]

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में आरोग्य-व्रत का वर्णन प्राप्त होता है। यह व्रत चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को किया जाता है। इसके निमित्त पहले दिन एक भुक्त आदि के नियमों से संयत होकर प्रतिपदा को एक शुद्ध चौकी पर अनेक प्रकार के कमल के फूल बिछाकर उनमें सूर्य का ध्यान करने का उल्लेख है।

कमलसप्तमी व्रत *पद्मपुराण* में वर्णित है। यह व्रत वैशाख शुक्ला सप्तमी को किया जाता है। इस व्रत के लिए सुवर्ण का कमल और सूर्य की मूर्ति बनवाकर वैशाख शुक्ला सप्तमी को एक शुद्ध वेदी पर कमल और कमल पर सूर्य की मूर्ति स्थापित करें एवं उनका यथाविधि पूजन करना चाहिए—

नमस्ते पद्महस्ताय नमस्ते विश्वधारिणे।
दिवाकर नमस्तुभ्यं प्रभाकर नमोऽस्तु ते।।

करवीर व्रत का उल्लेख *भविष्योत्तरपुराण* में भव्य रूप से प्रतिपादित है। तदनुसार ज्येष्ठ शुक्ला प्रतिपदा को देवता के बगीचे में जाकर देवरूप कनेर के वृक्ष का पूजन करें। उसको मूल और शाखा-प्रशाखाओं के सहित स्नान कराकर लाल वस्त्र ओढ़ावे। गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि से सूर्य का पूजन करने का विधान निर्दिष्ट हैं—

करवीर विषावास नमस्ते भानुवल्लभ।
मौलिमण्डन दुर्गादिदेवानां सततं प्रिय।।

विवस्वान् व्रत का वर्णन *ब्रह्मपुराण* में उल्लिखित है। आषाढ शुक्ल सप्तमी को भगवान् सूर्य 'विवस्वान्' नाम से विख्यात हुए थे। अतः उस दिन रथ के चक्र के समान सुन्दर गोल मण्डल बनाकर उसमें भगवान्

विवस्वान् का गन्धपुष्प आदि से विधिपूर्वक पूजन करना चाहिए और अनेक प्रकार के भक्ष्य-भोज्य एवं पेय पदार्थ अर्पित करके व्रत करना चाहिए।

शुक्लपक्षस्य सप्तम्यां यदादित्यदिनं भवेत्।
सप्तमी विजया नाम तत्र दत्तं महाफलम्।।
स्नानं दानं जपो होम उपवासस्तथैव च।
सर्वं विजयसप्तम्यां महापातकनाशनम्।।[7]

'पापनाशिनी सप्तमी' व्रत का वर्णन *हेमाद्रि* धर्मग्रन्थ में मिलता है। तदनुसार यह व्रत श्रावण शुक्ला सप्तमी को किया जाता है। इस व्रत में श्रावण शुक्ला सप्तमी को हस्त नक्षत्र होने से यह उदयव्यापिनी ग्राह्य है। उस दिन जगद्गुरु चित्रभानु का पूजन करके दान, पुण्य, हवन और व्रत करने से उसका अक्षय फल प्राप्त होता है।

सूर्यषष्ठी व्रत का वर्णन *भविष्योत्तरपुराण* में कथित है। तदनुसार सप्तमी से प्रयुक्त भाद्रपद शुक्ला षष्ठी को स्नान, दान, जप और सूर्य का व्रत करने से अक्षय फल प्राप्त होता है। विशेषकर सूर्य का पूजन, गङ्गा का दर्शन और पञ्चगव्य प्राशन से अश्वमेध के समान फल प्राप्त होता है। पूजा में गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य मुख्य है। जब रविवार को हस्त अथवा पुनर्वसु नक्षत्र का योग हो, तब पवित्र सर्वौषधिमिश्रित जल से स्नान करना चाहिए। इस प्रकार के रविवार को श्राद्ध करने वाला सात जन्मों में रोग से पीड़ित नहीं होता। संक्रान्ति के दिन यदि रविवार हो, तो उसे पवित्र 'आदित्यहृदय' माना गया है। उस दिन अथवा हस्तनक्षत्रयुक्त रविवार को एक वर्ष तक नक्तव्रत करके मनुष्य सब कुछ पा सकता है।[8] डॉ. पी.वी. काणे ने आदित्य-व्रत का सविस्तर वर्णन किया है।[9] सूर्यादि ग्रहों के रत्न, यन्त्र, मन्त्र तथा औषधि आदि स्वरूपों का शास्त्रों में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। विधानमाला नामक ग्रन्थ का उद्घोष है।

आदित्याद्या ग्रहाः सर्वे दुष्टस्थानस्थिता नृणाम्।
तदा कुर्वन्ति सर्वत्र पीडा नानाविधा ध्रुवम्।।

ग्रहों से मनुष्यों को विविध प्रकार की पीड़ा प्राप्त होती है। अतः इनकी शान्ति के उपायों को अपनाना नितान्त आवश्यक है। ग्रहों की अनिष्ट फल की शान्ति के लिए ग्रह-पूजा, औषधि-स्नान, होम तथा दान करने से होती है। सौरयन्त्र-धारण तथा बनाने की विधि वर्णित है।[10]

आगम भारतीय समाज की चिन्तनधारा, आचार-पद्धति को समझने के लिए अपरिहार्य स्रोत है। आज जो भी पूजा-पद्धतियाँ, काम्य-अनुष्ठानों की पद्धतियाँ या गृहारम्भ, संस्कारों की पद्धतियाँ और द्रव्यों के गुणकर्म-विभाग तथा दिव्यता-प्राप्ति की उनकी पद्धतियाँ वर्तमान हैं, वे आगमों पर ही मुख्यतः आधृत हैं। वस्तुतः आगम लोकविद्या है। लोकधर्म या लोक परम्परा का आदि रूप मखपरम्परा है जो आर्य तथा आर्येतर दोनों के लोकधर्म में समान रूप से स्वीकृत रहा। लोकधर्म में उत्सव का विशेष स्थान है।

सामान्यतः उत्सव शब्द उत् पूर्वक 'सु' धातु में 'अप्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है, जिसका अभिप्राय पर्व, हर्ष या आनन्द के अवसर का परिचायक है।[11] 'सु' धातु प्रसव-ऐश्वर्य (प्रसवैश्वर्ययोः) या 'षु अभिषेक' (षुञ्) धातु की महत्ता अभिषवन अर्थ में रही है। महाकवि कालिदास कहते हैं—**उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः**। अर्थात् मनुष्य निश्चित ही उत्सव-प्रिय होते हैं।[12] आगम-ग्रन्थों में उत्सव को अभिभाषित करते हुए कहा गया है—

उत्सवं सर्वलोकानां शान्तिपुष्टिकरं विदुः।
सवो यज्ञः समाख्यातः सर्वयज्ञविशेषतः ।।
उत्कृष्टोऽयं यतस्तस्मादुत्सवस्त्विति कीर्त्यते।।[13]

अर्थात् 'सव' को यज्ञ कहा गया है। यज्ञ में उत्कृष्ट होने के कारण भगवदाराधनरूप इस क्रियाविशेष को उत्सव कहते हैं। उत्सव के द्वारा लोक में शान्ति और पुष्टि होती है। पाञ्चरात्र आगम की *नारदीयसंहिता* में भी यही परिभाषा दी गयी है।[14]

उत्सव लोक जीवन को गतिमान् बनाये रखते हैं। समरसता, सौहार्द की पूर्ति उत्सव से होती है। सूर्य षष्ठी का पर्वोत्सव समग्र देश में विशेष रूप से बिहार में भव्य रूप से मनाया जाता है। उत्सवों की शृंखला में सूर्यषष्ठी (छठ) लोकदृष्टि की प्रसन्नता की प्रसन्नता और समकालीन मन के अन्तर्मिलन का श्रेष्ठ रूपक है।

सूर्य-व्रत की तेजस्विता, ऊर्जस्विता मिले. इसके लिए यह छठ व्रत किया जाता है।यह समस्त अनुष्ठान लोक से उपजा है। सूर्य की उपासना लोक अपने ढंग से करता है। कोई देवता हमारे लोक का साथी यो ही नहीं बन जाता। वह हमारे सुख-दुःख का साथी होता है। सूर्य हमे ऊष्मा देते हैं, रङ्ग देते हैं। हमारे जीवन को रहने के योग्य बनाते हैं। जो किरणें हमारी मनुष्यता से परावर्तित होती हैं, वहीं आलोक रचती हैं। सूर्य की रोशनी हमारे भीतर के उत्सव की संज्ञा है। सूर्य सबका है, हर धर्म, जाति, सम्प्रदाय, भाषा, क्षेत्र तथा देश सबका । प्रकृति को अर्घ्य देने का सङ्केत सूर्य को अर्घ्य देने में है। सार तथ्य यह है कि सूर्य को दिया जाने वाला अर्घ्य लोकमन में 'छठीमइया' को दिया जाता है। छठीमइया लोक-संरचना में हित करने वाली देवी बन जाती है। जितने फल मिल सकते हैं चढ़ाये जाते हैं। बाँस से बनी दउरियों में फल नदी के तट पर ले जाते है तथा चढ़ते और उतरते सूर्य को अर्घ्य देते हैं। नदी, तालाब या समुद्र में घुटनेभर पानी में खड़े होकर साधना पूर्वक उन्हें नमन करते हैं, श्रद्धा देते हैं। आगम ग्रन्थों के अनुसार श्रद्धा मूल वृत्ति है। समस्त प्रवृत्तियों का केन्द्र है। वही समस्त व्यवहारों की प्रतिष्ठापिका है। '*त्रिपुरारहस्य* के ज्ञानखण्ड' का अभिमत है—

श्रद्धा हि जगतां धात्री श्रद्धा सर्वस्य जीवनम।
अश्रद्धो मातृविषयो बालो हि जीवते कथम्।।[15]

श्रद्धा प्रेममयी माता है, वह सब कुकर्मों व कुतर्कों से सुरक्षित रखती है। श्रद्धा न रखने से लक्ष्मी, कीर्ति तथा सुख साथ छोड़ देते हैं। भगवती सत्पुरुषों में श्रद्धा रूप से ही संस्थित है।

लोक जीवन में सूर्य हमारे घरेलू मित्र, सखा, देवता सब कुछ है। छोटे-छोटे बच्चों से लेकर बड़े तक सभी सूर्य से सघन आत्मीयता रखते हैं। सूर्यषष्ठी से लेकर पूर्णिमा तक देशभर में प्रमुख मेले लगते हैं। उत्तरप्रदेश के मऊ जनपद के 'देवलास' मेला अतिप्रसिद्ध है। देवलास (देवलार्क) में सूर्य की प्राचीन मूर्ति है, जिसमें वे सात घोड़ों से जुड़े रथ पर सवार हैं।

अनेक ध्वजों पर सूर्य के चिह्न देखे जा सकते हैं। सूर्यषष्ठी पर्व में आत्मनिर्भरता का भाव है। यथा—यह पर्व बिना किसी पुरोहित के किया जाता है। सिर्फ उगता सूर्य ही छठ पर्व में पूज्य नहीं, बल्कि अस्त होते सूर्य को भी अर्घ्य दिया जाता है। यह इस तथ्य का द्योतक है

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।।

अर्थात् सूर्य के समान उदय और अस्त दोनों स्थितियों में समान रहना ही महात्माओं का लक्षण है। इससे बड़ा अध्यात्म क्या हो सकता है? जीवन को प्रत्येक परिस्थिति के योग्य बनाने का उपक्रम है—छठपर्व।

छठ लोकोत्सव का पर्व है क्योंकि इसमें हमारी लय, हमारी संस्कृति, हमारे लोकगीत, हमारे सन्दर्भ तथा हमारी सभ्यता जुड़ी हुई है। इसलिए यह हमारी अस्मिता भी बन गया है। यही कारण है कि लोकमन ने सूर्य को अपने कुल परिवार का सुरजदेव बना लिया। कार्तिक शुक्ल पक्ष की चतुर्थी से सप्तमी पर्यन्त उत्सव ही उत्सव होते हैं। सूखाव्रत ही नहीं होता, अपितु सूर्य को अर्घ्य। जल में रहकर दिया जाता है। इस परम्परा के गूढार्थ हैं। जल की भरपूर आपूर्ति का मन लोक-पुरुष को रहा होगा। जल ही जीवन है। इसलिए जलाशय, तालाब तथा नदी हमारी संस्कृति के सम्बल हैं। आज यह प्रदूषित हो रहे हैं। इसपर ध्यान देना निहायत जरुरी है। पृथ्वी के नीचे का जल तथा ऊपर के जल समान अनुपात में हो। जल का प्रत्येक बूँद कीमती है। उसे सुरक्षित रखना ही मनुष्यों को सुरक्षित रखना है। मर्सियाइलियाड का अभिमत है—'पृथ्वी अपनी बहुप्रसविता की समता से पर्वत, नदियों, वृक्षों तथा फूलों को जन्म देती है।' छठी के गीत प्रकृति की अर्थवत्ता के आवाहन-गीत ही हैं।

लोकपर्व छठ का भव्यता में और इजाफा करते है इस अवसर पर बजने वाले ऐसे लोकगीत । अलौकिक अनुभूति कराने वाले ये गीत न हो तो यह आयोजन अपूर्ण लगता है। केवल पूर्वांचल की धरती पर ही नहीं, ये गीत पूरे देशभर में जहाँ-जहाँ यह आयोजन होता है लोगों को इस पर्व से जोड़ते हैं। घाटों पर तो यह गीत गूंजते ही है, छठी-व्रती, घर की महिलाएँ व अन्य सदस्य विभिन्न गीतों को इस पूजा की अलग-अलग रीतियों को सम्पन्न करते वक्त समवेत स्वर में इसे गाते हैं।

तन्त्र और कला का सम्बन्ध केवल दार्शनिक चर्चा का विषय नहीं है, वह जीवन की प्राणभूत आवश्यकता है। प्राणीमात्र सन्तान के लिए किसी न किसी प्रकार की आवाहन प्रक्रिया, गीत हो, नृत्य हो, कम्पमात्र हो, स्पन्दमात्र एक बेचैनी का अनुभव करते है। 'छठी मईया' की उपासना से पुत्र की प्राप्ति होती है, यह उनके लोकगीतों से स्पष्ट होता है।

सन्दर्भ

1. *शारदातिलकतन्त्रम्* पदार्थादर्शव्याख्या पटल-2
2. *गणपत्युपनिषद्*-8.
3. *भविष्यपुराण* एक अनुशीलन, पृ. 213, डॉ. रामजी तिवारी, वैशाली प्रकाशन, गोरखपुर, 1986 ई.
4. *भविष्यपुराण*, 40वाँ अध्याय
5. *भविष्यपुराण*, 4/43/2, 16.
6. तत्रैव, 4/43/2, 16.
7. *तृचभास्कर*, पृष्ठ-130.
8. *अग्निपुराण*, अध्याय-195.
9. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग-4, हिन्दी संस्करण.
10. *तृचभास्कर*, पृष्ठ- 145-149.
11. *पाणिनिधातुपाठसमीक्षा*, पृ.512/513.
12. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्* 6/4
13. *समूर्तार्चनाधिकरण* 54/2-3
14. *नारदीयसंहिता*,18/1-2
15. *त्रिपुरारहस्य*, ज्ञानखण्ड-7/25 2.
16. तत्रैव, ज्ञानखण्ड-7/24
17. *दुर्गासप्तशती*, अ.5/50

अध्यक्ष, धर्मागम विभाग
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञान सङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

कश्मीरी दार्शनिक भक्ति की क्रमिकता

डॉ. बीना अग्रवाल

परमतत्त्व का ज्ञान, मोक्ष अथवा आत्मसाक्षात्कार भारतीय दर्शनों एवं जीवन का लक्ष्य माना गया है। इसकी प्राप्ति के दो मार्ग हैं—ज्ञान एवं भक्ति। भक्ति भावनामयी होने के कारण सर्वजनसुलभ है और इसके लिए एक भाव प्रवण हृदय के अतिरिक्त किसी अन्य पूर्वयोग्यता की आवश्यकता भी नहीं है। *गीता*[1], *मालिनीविजयोत्तरतन्त्रादि* ग्रन्थों में भक्ति को परमात्म दर्शन का एकमात्र उपाय बताया गया है। सामान्यतः भक्ति उपास्य और भक्त की भिन्नता पर आश्रित होती है। भक्त अपनी (तुच्छता) अकिञ्चिनता प्रकट करते हुए परमेश्वर से कृपा की याचना करता है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन रूप नवधा भक्ति भक्त और भगवान के द्वैत की ही पुष्टि करती है। कश्मीरी भक्ति दार्शनिकता की भूमि पर स्थित है, यह भक्त और भगवान् के तात्त्विक अन्तर को नहीं मानती। इनके अनुसार पूजा, पूजक और पूज्य में कोई अन्तर नहीं है।[2] काश्मीर शैवदर्शन के अद्वैतपरक सिद्धान्तों का प्रभाव वहाँ के भक्तिपूर्ण स्तोत्रों पर भी दिखाई देता है।

भक्ति परम तत्त्व, चाहे वह साकार हो या निराकार, के प्रति समर्पण है. प्रेम है। सारे संसार में उसी का दर्शन है। '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' की भावना है। सभी धर्मों के अनुयायियों ने अपने-अपने परम तत्त्व के प्रति भावविभोर होकर स्तुति रचनाएँ की हैं। इन स्तुतियों को गाते समय मनुष्य परम शान्ति और आनन्द का अनुभव करते हैं। यह स्तुतियाँ मनुष्य के भीतर छिपी हुई नकारात्मकता को दूर करके उसे सकारात्मक विचारों से परिपूर्ण कर देती हैं। प्रमुख शैव दार्शनिकों उत्पलाचार्य, अभिनवगुप्त, भट्टनारायण आदि के स्तोत्र और भक्त कवयित्री लल्लद के काश्मीरी भाषा में रचित बाखों में भी ज्ञान की प्रधानता है। ज्ञानप्रधानता का अर्थ नीरस होना कदापि नहीं है। बल्कि इसका कारण यह है कि कश्मीरी भक्त ईश्वर के प्रति अपने विह्वल उद्गारों के समय भी उसके विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण अद्वयात्मक स्वरूप का ही ध्यान करते रहते हैं और उनके समस्त भक्तिपूर्ण स्तोत्र उसी निर्गुण परम तत्त्व के महत्त्व गान में नि:सृत होते हैं।

दार्शनिकता

कश्मीरी भक्ति इसलिए भी विशिष्ट है कि इसमें दर्शन गुंथा हुआ है। प्रायः मध्यकालीन संतों की भक्ति में दैन्य, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन, प्रणय आदि भाव प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जबकि कश्मीरी भक्ति रचनाओं में संसार की शिवरूपता, भौतिक पदार्थों की नश्वरता, परमेश्वर की सर्वोच्चता के विचार प्रकट हुए हैं। इस भक्ति साहित्य की एक और विशेषता इसका सम्प्रदायवाद से परे होना है। भक्त कवयित्री लल्लद हो या नुन्द

ऋषि, ये दोनों कश्मीरी संत हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही सम्प्रदायों के लिए आदरास्पद रहे हैं। कश्मीरी दर्शनमयी भक्ति में सम्पूर्ण संसार परमात्मा से अभिन्न जान पड़ता है और भक्तों को परमेश्वर से एकात्म्यप्राप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए

परमेश्वरतालाभे हि समस्ता संपदः तन्निष्यन्दमय्यः संपन्ना एव रोहणलाभे इव।
प्रमुषितस्वात्मपरमार्थस्य हि किमन्येन लब्धेन।[3]

कश्मीरी शिवाद्वयवादी भक्ति की अद्वयात्मकता वस्तुतः भक्ति के मूल स्वरूप के विरोध में प्रतीत होती है। सामान्यतः भक्ति में भेद में अभेद दर्शन का प्रत्यय होता है, किन्तु यहाँ अभेद में भेद दर्शन है। यहाँ ऐक्य वास्तविक और भेद आभासरूप है। विभेदनार्थक भज् धातु से क्तिन् प्रत्यय पूर्वक निष्पन्न भक्ति पद में व्युत्पत्तितः द्वैत का संस्पर्श स्वाभाविक है। रूढ अर्थ की दृष्टि से भक्ति सेवन, आराधन, अनुरंजन और तदेकताप्रधान चित्तवृत्ति है। अन्य अर्थ में भक्ति अभेदानुसंधान को लक्षित करती है। इस प्रकार प्रमेय स्तर पर भक्ति भेदात्मक, प्रमाता या भक्त के स्तर पर रागात्मक और प्रमिति या बोध के स्तर पर अनुसन्धानात्मक है, जो अन्ततः स्वरूपानुसन्धान में पर्यवसित होती है, यह स्वरूपानुसन्धि ही दास्य है, जिसे उत्पलाचार्य ने भक्ति के केन्द्रीय प्रत्यय के रूप में माना है।[4]

स्वरूप की दृष्टि से भक्ति परमेश्वर के प्रति बेसुध बेबसी भरा समावेश है। मोक्ष इसका फल भी होता है और लक्ष्य भी। इस समावेश से जो स्वात्मप्रकाशन होता है, वही पुनर्व्युत्थान की आशंका न होने पर मोक्ष है।[5] कारण यह है कि दृक् क्रियात्मक परिपूर्णता के आस्वादन से व्युत्थान की आशंका समाप्त हो जाती है। इस स्थिति में मोक्ष भक्ति का फल है। परमेश्वर की भक्ति की विवशता से भरे समावेश का आस्वाद वही होता है, जो मोक्ष का आस्वाद होता है तब भक्ति ही मोक्ष है।[6] उत्पलाचार्य भक्ति की इन दोनों स्थितियों में विश्वास करते हैं।[7] सभी शैव भक्त दार्शनिकों का इस विषय में वैमत्य नहीं है कि भक्ति व्युत्थान दशा की हमारी दैनन्दिन अनुभूतियों को भी समाधि के रस से सींच देती है। उत्पलाचार्य ने स्पष्टतया कहा है—भक्तियुक्त योगी प्रत्याहार आदि क्रियाओं के बिना व्युत्थान दशा में भी समाधिस्थ रहता है।[8]

भट्टनारायण शिव के प्रति अपने नमस्कारात्मक पद्य में ही शिवाद्वयवाद के मौलिक दार्शनिक सिद्धान्त को अभिव्यक्त कर देते हैं। शिव ऐसे चित्रकार हैं जो बिना किसी उपादान सामग्री व मित्ति या कैनवास के इस चित्र विचित्र जगत् की रचना कर देते हैं—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघाय शूलिने।।[9]

संसार के अधिष्ठाता शम्भु मनुष्यों की भक्ति के कारण उनकी मुक्ति के लिए प्रवृत्त होते हैं, स्मरण के कारण रक्षा प्रदान करते हैं और स्तुति करने से इस संसार में रहते हुए संसार से निवृत्ति प्रदान करते हैं—

नमो भक्त्या नृणां मुक्त्यै भवते भव तेऽवते।
स्मृत्या नुत्या च ददते शम्भवे शं भवेऽभवे।।[10]

क्रमिकता

कश्मीरी दार्शनिकों के भक्तिपूर्ण स्तोत्रों का अध्ययन करने पर उनकी भक्ति की अभिव्यक्ति में एक क्रमिकता दिखाई देती है। भक्ति की यह प्रक्रिया क्रमशः नुति-नमस्कार, प्रह्वीभाव-भावात्मक वैक्लव्य, स्तुति-प्रशंसात्मक पद्य, आत्मनिवेदन—स्वयं के दास्य, सख्य भावों का वर्णन, से होती हुई अन्ततः समावेश के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचा देती है। यही समावेश दर्शन का भी लक्ष्य है, जो शक्तिपातपूर्वक आत्मसाक्षात्कार के माध्यम से प्राप्त होता है। शक्तिपात दर्शन और भक्ति दोनों से जुड़ी हुई अवधारणा है। शक्तिपात सायास भी होता है और अनायास भी है। यह फल की अपेक्षा से भी होता है और निष्काम भी। फल की अपेक्षा से की जाने वाली भक्ति भी कर्मादि की अपेक्षा रखती है

अनपेक्ष्य शिवे भक्तिः शक्तिपातोफलार्थिनाम्।
या फलार्थितया भक्तिः सा कर्माद्यमपेक्ष्यते।।[11]

किन्तु दार्शनिक के आत्मसाक्षात्कारपूर्वक समावेश अथवा भक्तिपूर्ण समावेश दोनों के लिए यह आवश्यक शर्त है। भक्ति की प्रक्रिया में भक्त प्रायः स्वयं को अकिञ्चन मानते हुए परमेश्वर को पूर्ण मानता है और उस तक पहुँचने के लिए पूजा, जप, उपासना आदि मार्गों का आश्रय लेता है। इस मार्ग पर आगे बढ़ते हुए उसे परमात्मा से अपनी अभिन्नता की अनुभूति होने लगती है। इसके साथ ही वह सम्पूर्ण चराचर जगत् से भी ऐकात्म्य का अनुभव करने लगता है। अभिनवगुप्त के अनुसार विभिन्न भावात्मक पदार्थों या पूजा द्रव्यों की स्वतन्त्र, निर्मल, अनन्त भैरवीय चिदात्मतत्त्व से संगति बिठाना ही पूजन है।[12] उत्पलाचार्य शिव का निरन्तर नाम जप करते समय पुनरुक्ति के बिना होने वाले किसी अलौकिक रस की अनुभूति कर पाते हैं।[13]

नुति

भक्त जब मन, बुद्धि. शरीर से सम्पूर्ण सृष्टि में परमात्मा के उत्कर्ष का अनुभव कर पाता है तो वह स्वतः ही ईश्वर के प्रति विनम्र हो जाता है। उसका यह भाव नमस्करणीय के उत्कृष्ट रूप से प्रेरित भी होता है और उसे सूचित भी करता है। उत्पलाचार्य *शिवस्तोत्रावली* में कहते हैं—

नमः सततबद्धाय नित्यनिर्मुक्तिभागिने।
बन्धमोक्षविहीनाय कस्मैश्चिदपि शम्भवे ।।[14]

अभिनवगुप्त अपनी *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* में इस भाव को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

इह परमेश्वरं प्रति येयं कायवाङ्मनसां तदकेता-विषयता नियोजना लक्षणा प्रह्वता सा नमस्कारस्य अर्थः । ...सा च तथा कर्तुमुचिता प्रामाणिकस्य भवति यदि सर्वतो नमस्करणीयस्य उत्कर्ष पश्येत।[15]

उनके अनुसार पूजा, हवन, सर झुकाना, साष्टांग प्रणिपात आदि सभी क्रियाएँ उस परमतत्त्व के उत्कर्ष परामर्श का अनुमान कराती हैं। इसीलिए ये सब औपचारिक अर्थ में ही नमस्कार या प्रणति कहलाती हैं,

मुख्य अर्थ में नहीं। उनका कहना है कि उनका प्रत्येक शब्द नुति रूप है, विशेष रूप से अपने विश्वकोषात्मक ग्रन्थ *तन्त्रालोक*[16] को तो उन्होंने महेश पूजन के लिए कमल के फूल की भांति चुना है।[17]

प्रह्वीभाव

भावोद्रेक के कारण भक्त की परमेश्वर के प्रति वैवश्यपूर्ण व्याकुलता होती है उसे प्रकर्ष अर्थात् अन्य के तिरस्कारपूर्वक शब्दन है, मानों उसके गुणों में अनुप्रवेश करते समय स्पर्धा कर रहा है—**प्रकर्षेणेति अन्यतिरस्कारेण ह्वयति शब्दयति, तद्रूप्यं परामृशति, तदगुणानुप्रवेशस्पर्धावानिवेति प्रह्वः ।।**[18]

यह प्रह्वता या उत्कर्ष बुद्धि परामर्शात्मक होती है, यह मानसिक संवेदन है और वाक तत्त्व में इसकी विश्रान्ति होती है, जड़ शरीर में नहीं। इसीलिए संवित् के मनोवेगात्मक अंश को अर्पित करते समय भक्त मानो सम्पूर्ण विश्व ही अर्पित कर देता है—

> **तथा हि प्रह्वता च उत्कर्षणं च तथा प्रकाशपरामर्शनरूपं मानसे संवेदने तत्साररूपे च वाक्तत्त्वे विश्रान्तिम्, न तु जडे शरीरे। तेन मनोवेगात्मकं यदविभक्तं संविच्छक्तेः, तदेव अर्पयता भक्तेन विश्वमर्पितं भगवति भवतीति।**[19]

स्तुति

स्तुति के लिए भक्त के हृदय में परासंवित् अथवा ईश्वर के प्रति उत्कर्ष बुद्धि-परामर्श आवश्यक होता है। यह मानस संवेदन ही तीव्रतर हो कर स्तोत्र रूप में स्वतः निःसरित होता है। इनमें भक्त के हृदय से स्वयं के क्षुद्रता और परम तत्त्व के उत्कर्ष के भाव भरे होते हैं। परमेश्वर के उत्कर्ष का सर्वत्र दर्शन करने के पश्चात् भक्त के विगलित हृदय से जो भावप्रवण उदगार स्वतः स्फुरित होते हैं, वे ही स्तुतिरूप हैं। उत्पलाचार्य शैवदर्शन के सिद्धान्तों का व्यवस्थित प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* का प्रारम्भ ही इस पद्य से करते हैं—

> **कथञ्चिदासाद्य परमेश्वरस्य दास्यं जनस्याप्युपकारित्वमिच्छन्।**
> **समस्तसम्पद्समवाप्तिहेतुं तत् प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि।**

इस पद्य की अभिनवगुप्त द्वारा *विमर्शिनी व विवृत्तिविमर्शिनी* में की गई व्याख्याओं में न केवल भक्ति का प्रत्यय स्पष्ट हो जाता है। उनके अनुसार यहाँ दास्य पद के प्रयोग का तात्पर्य भक्ति के सख्य, वाल्लभ्य और दास्य प्रकारों के अर्थ में नहीं है अपितु समस्त सम्पत्ति अर्थात् ईश्वरभावरूप ऐश्वर्य की प्राप्ति है। क्योंकि प्रकृष्ट भक्ति फल की आकांक्षा से रहित हो सकती है किन्तु फल के सम्बन्ध से रहित नहीं होती। भक्ति का अन्तिम फल तो परमेश्वरता की प्राप्ति या समावेश ही है।[20] उत्पलाचार्य की *शिवस्तोत्रावली* में भक्त हृदय की करूणा, दैन्य, वैवश्य, आर्त प्रकार, विनम्रता आदि स्फुटता से साथ अभिव्यक्त हुए हैं। वे कहते हैं

> **यः प्रसादलव ईश्वरस्थितो या च भक्तिरिव मामुपेयुषी।**
> **तौ परस्परसमन्वितौ कदा तादृशे वपुषि रूढ़िमेष्यतः।।**[21]

उनकी परमेश्वर से दर्शन देने की प्रार्थना है—

नाथ कदा स तथाविध आक्रन्दो मे समुच्चरेद् वापि।
यत्समनन्तरमेव स्फुरति पुरस्तावकी मूर्तिः।।[22]

स्तुति की दृष्टि से उत्पलाचार्य का *शिवस्तोत्रावली* अद्वितीय स्तोत्रग्रन्थ है। यह न केवल रचयिता के भावोद्गारों का प्रकाशन करता है बल्कि श्रोता के लिए भी आत्मिक समुन्नति के सुखद क्षण का श्रीगणेश उसी समय हो जाता है, जब उस के कानों में इस ग्रन्थ के मधुर रस की बूँदें टपकने लगती हैं। इसका वैशिष्ट्य इसलिए भी है कि इस ग्रन्थरत्न का आविर्भावक सामान्य कवि नहीं है. वह समावेशदशा का प्राप्त परम विश्रान्ति में स्थित अनन्य साधक है। इसमें करुणा भी है, आर्तपुकार भी, भक्ति भी है, उन्माद भी है. विवशता, दैन्य, ग्लानि भी है, इष्ट से शिकवा भी है, नम्रता भी है और आत्म-समर्पण भी है। समाधि और व्युत्थान के सामरस्य की स्थिति में अकस्मात् शिवाभास की अनुभूति से स्तोत्र के रूप में *शिवस्तोत्रावली* स्वतः प्रसूत मुक्ताओं की माला है, यह ग्रन्थ स्तुतिकाल में भक्त के हृदय की दशा का मनोहारी चित्रण करने में सक्षम हैं। शैवी भक्ति में लीन भक्त अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया को परम तत्त्व को समर्पित करते हुए एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है—

नमः स्तुतौ स्मृतौ ध्याने दर्शने स्पार्शने तथा।
यत्र पूजनमहोत्सवः स मे सर्वदा स्तुतोऽनुभावतः।।[23]

आत्मनिवेदन

सम्पूर्ण संसार में आत्मरूपता का दर्शन कर लेने वाले भक्त को संसार में कुछ भी दोषपूर्ण या विघ्नमय नहीं दिखाई देता—

तत्र हि सति विश्वमपि स्वात्मभूतम् अभिन्नस्वतन्त्रसंवित्परमार्थं भवतीति कः कस्य कुत्र विघ्नः?[24]

अभिनवगुप्त परमेश्वर से आत्मनिवेदन करते हुए कहते हैं कि तुम तुम हो और मैं मैं हूँ। मैं उस स्थिति को नमस्कार करता हूँ, जहाँ तुम और मैं दोनों मिलकर एकरूप हो जाते हैं—

भवद्भक्तस्य संजातभवद्रूपस्य मेऽधुना।
त्वमात्मरूपं सम्प्रेक्ष्य तुभ्यं मह्यं नमो नमः ।।[25]

यह दार्शनिकता की वह स्थिति है जब '**सर्व शिवमयं जगत्**' का साक्षात्कार हो जाता है।

शक्तिपात

शक्तिपात परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति का अनुग्राहक कृत्य है. जिसमें कोई उपाय काम नहीं करता। इस अनुग्रह के लिए लोक एवं पुराणों ने भी स्वीकार किया है।[26] उत्पलाचार्य ईश्वर स्थित प्रसाद एवं अपनी भक्ति के मेल के लिए कामना करते हैं।[27] प्रसाद का अर्थ अभिनवगुप्त ने निर्मलीभाव किया है. जिससे भगवद्रूपता, तादात्म्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है और यही शिव के पूर्णरूप का प्रकाशन है।[28] इस प्रकार निरपेक्ष

शक्तिपात, अनुग्रह शक्ति और परमेश्वर की पूर्ण प्रकाशमयता अन्ततः एकरूप ही हैं। उत्पलाचार्य की अत्यन्त भावतरल अभिव्यक्ति है—

शक्तिपातसमये विचारणं प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित्।
अद्य मां प्रति किमागतं यतः स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे।।[29]

भगवन! अब अपने को प्रकाशित करने में आप क्यों देर कर रहे हैं. मेरी योग्यता का विचार तो आपको शक्तिपात के समय करना चाहिए था।

शक्तिपात का प्रत्यय दार्शनिक होने पर भी भक्ति से साक्षात् सम्बन्धित है। शिव की कृपा ही शक्तिपात है जो भक्त के सहज सुलभ होती है, दूसरे शब्दों में भक्ति से शक्तिपात की प्राप्ति ही नहीं होती है, बल्कि शक्तिपात का प्रथम चिह्न ही रुद्र में निश्चल भक्ति को माना गया है—

तत्रैतत्प्रथम चिह्नं रूद्रे भक्तिः सुनिश्चला।[30]

भक्ति से शक्तिपात होता है या शक्तिपात से भक्ति ज्ञात होती है। इसमें चक्रक दोष की सम्भावना की आवश्यकता नहीं है क्योंकि महेश्वर स्वयं क्रीड़ायोग से अपना प्रच्छादन करके अनेक रूपों में प्रकाशित करते हैं एवं जब उन्हें इच्छा होती है तो अपने स्वातन्त्र्यपूर्वक उन अनेक रूपों में से किसी को भी अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट कर देते हैं।[31]

समावेश

समावेश भक्ति और ज्ञान दोनों का ही स्वरूपविधायक तत्त्व भी है और लक्ष्य भी। इसका सम्बन्ध जीवन के सामान्य क्रियाकलापों को भी हम ईश्वरार्पित बुद्धि से करें और सम्पूर्ण संसार में अपनी संवित् से अभिन्नता का अनुभव करें, तो यही व्युत्थान दशा में परमेश्वरता का अनुभव कहा जाएगा। यह स्थिति देह के बने रहने पर भी भगवन्मयता की स्थिति है—

सेयं द्वयी अपि जीवन्मुक्तावस्था समावेश इत्युक्ता शास्त्रे...देहपाते तु परमेश्वर एवैकरसः इति कः कुत्र कथं समाविशेत्।[32]

नुति, स्तुति, पूजा, ध्यान आदि विधियाँ हमारे प्रमातृभाव को गलाकर वह पृष्ठभूमि तैयार करती हैं, जिसके कारण हम इस जडाजडात्मक जगत् में ऐकात्म्य का अनुभव कर सकें और इस प्रकार ये सभी क्रियाएँ समावेश की ही अंशभूत हैं—

समावेशपल्लवा एव च प्रसिद्धदेहादिप्रमातृभागप्रह्वीभावभावनानुप्राणिता
परमेश्वरस्तुतिप्रणामपूजाध्यानसमाधिप्रभृतयः कर्मप्रपञ्चाः।[33]

इस प्रकार शैव दार्शनिकों की समावेशमयी भक्ति पञ्चकृत्यकारी शिव के अनुग्रह अथवा शक्तिपात का प्राप्त करने का साधन भी है और स्वरूप भी। इन सभी के भावप्रवण उदगारों में दर्शन के सभी महत्वपूर्ण

सिद्धान्त-शिव का प्रकाशविमर्शरूप, उनकी विश्वोत्तीर्णता के साथ विश्वमयता, आभासवाद और परम स्वातन्त्र्य-गुम्फित हैं। इन स्तोत्रों के माध्यम से बुद्धि पर भावना की प्रधानता तो दिखाई देती है. साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान अथवा भावना (दर्शन अथवा भक्ति) किसी भी मार्ग से जाएँ अन्ततः गन्तव्य तो एक ही है- समावेश, शिवरूपता अथवा आत्मप्रत्यभिज्ञान।

सन्दर्भा:

1. नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेनं प्रवेष्टुं च परंतपः।। *गीता* 11/52, 54
2. पूजापूजकपूज्यभेदसरणि: केयं कथा अनुत्तरे। *अनुत्तराष्टिका*, 3
3. *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* 1.33
4. कथञ्चिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन्।
समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि।। *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* 1.1.1
5. मोक्षलक्षणो य आस्वादः परिपूर्णो विश्वरूपतामयो दृक्क्रियात्माविमर्शः स एव प्रकृतो यत्र ।
भक्त्या हि तत्परमेश्वरविषयवैवश्यसमावेशरूपया यः स्वात्मप्रकाशः स एव अनाशङ्क्यमानपुनर्व्युत्थानतया मोक्षः।
—*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी* 1, पृ. 24-25
6. (क) मोक्षास्वादसविधस्य परमेश्वरभक्तिवैवश्यसमावेशस्य।
मायोत्तीर्णत्वं व्यापकम्, तद्विरूद्धं च मायान्तर्वतित्वम् ।। वही पृ. 25
(ख) सर्वथा नैर्मल्यात्मा प्रसादो भगवद्रूपता, तादात्म्यं मोक्ष एव। *ई.प्र.वि.वि.* 1. पृ. 25-26
7. त्वदभक्तिरससंसिक्त निःश्रेयसमहाफलम्। *शिवस्तोत्रावली.* 1.26
मुक्तिसंज्ञा विपक्काया भक्तेरेव त्वयि प्रभो। वही 16.19
8. प्रत्याहाराद्यसंस्पृष्टो विशेषोऽस्ति महानयम्।
योगिभ्यो भक्तिभाजां यद्व्युत्थानेऽपि समाहिता।। *शिवस्तोत्रावली* 1.17
9. *स्तवचिन्तामणि*,
10. वही, 30
11. *तन्त्रालोक*, 13.118
12. पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्य संगतिः।
स्वतन्त्रविमलानन्तभैरवीयचिदात्मना।। *तन्त्रालोक* 4.121-22
13. शिव शिवेति नामनि तव निरवधि नाथ जप्यमानेऽस्मिन्।
आस्वादयन् भवेयं कमपि महारसमपुनरुक्तम्।। *शिवस्तोत्रावली.* 5.23
14. वही 2.17
15. *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* 1.18-19
16. तव किल नुतिरेषा सा हि त्वद्रूपचर्चेत्यभिनवपरितुष्टा लोकमात्मीकुरुष्व। *तन्त्रालोक* 37, 85

17. अभिनवगुप्तहृदम्बुजमेतद्विचिनुत महेशपूजनहेतोः। वही, 121
18. *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी,* 1. पृ. 9
19. वही, पृ. 21-22
20. द्रष्टव्य : वही, पृ. 28
21. *शिवस्तोत्रावली*, 8.1
22. वही, 9.19
23. *शिवस्तोत्रावली*, 13.6
24. *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी* 1. पृ. 18
25. *महोपदेशाविंशतिकम्*
26. पुराणेऽपि च तस्य वै प्रसादाद्भक्तिरिष्यते।
मया यान्ति परां सिद्धिं तदभावगतमानसाः।। वही, 13.258
27. यः प्रसादलवः ईश्वरस्थितो या च भक्तिरिव मामुपेयुषी।।
तौ परस्पर समन्वितौ कदा तादृशे वपुषि रूढिमेष्यतः। *शिवस्तोत्रावली*, 8.1
28. (क) सर्वथा नैर्मल्यात्मा प्रसादो भगवद्रूपा, तादात्म्य मोक्ष एव। — *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी* 1. पृ. 256
(ख) प्रसादो निर्मलीभावस्तेन सम्पूर्णरूपता।
आत्मना तेन हि शिवः स्वयं पूर्णः प्रकाशते। *तन्त्रालोक*, 13.286
29. *शिवस्तोत्रावली*, 13.11
30. उद्धृत *तन्त्रालोक* 13.216
31. देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
रूपप्रच्छादनक्रीडायोगादणुरनेककः।।
स्वातन्त्र्यमहिमैवायं देवस्य यदसौ पुनः।
स्वरूपं परिशुद्ध सत्स्पृशत्यप्यणुतामयः।। *तन्त्रालोक* 13.103-5
32. *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी* 2, पृ. 258
33. वही।

सीनीयर रिसर्च फेलो (ICSSR)
संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,जयपुर(राज.)
आवास—सी-99 मोतीमार्ग, बापूनगर,
गान्धीनगर, जयपुर-302015
फोन नम्बर-9414442037, 8209019473
ईमेल- beena.agr@gmail,com

षट्चक्र में स्थित मातृका एवं प्रधान योगिनी स्वरूप विमर्श

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

भारतीय तन्त्रशास्त्र में विविध योगिनीशक्ति का उल्लेख तथा अर्चन विधि प्राप्त होती है। श्रीविद्या क्रम में नवावरण में समस्त देवियों को योगिनी रूप माना गया है तथा उनकी अभिधा नव नामों से की गई है—1. प्रकट, 2. गुप्त, 3. गुप्ततर, 4. सम्प्रदाय, 5. कुलोतीर्ण, 6. निगर्भ, 7. रहस्य, 8. अतिरहस्य एवं 9. परापरातिरहस्यरूपा योगिनी। इसमें सम्पूर्ण पराशक्ति एवं उसके अन्तर्भूत सभी शक्तियों का समावेश है। अष्ट योगिनी तथा चौंसठ योगिनी भी नाम पुराणों में प्रसिद्ध है। इस शोध पत्र में तन्त्रागम में शरीर के सप्त चक्रों में अवस्थित प्रधान योगिनी के साथ मातृका योगिनी के ध्यान के स्वरूप पर विमर्श किया गया है।

हमारा शरीर सप्त धातुओं से निर्मित है अत: सप्त चक्रों में अवस्थित सात प्रधान योगिनी अपने परिवार सहित श्रीविद्यासाधक के लिए ध्येय है। उनका स्वरूप तन्त्रशास्त्र में इस प्रकार उपवर्णित है कि प्रत्येक चक्र में उनकी वर्णमातृका रूपी योगिनी शक्तियाँ संयुक्त होकर ध्यान में अर्चित की जाती है।

'षोढा न्यास प्रकरण' (*श्रीविद्यारत्नाकर*, पृ. 120-122 में) में इनका स्वरूप वर्णित है जो अग्रलिखित है—

डाकिनी योगिनी

यह योगिनी त्वचा धातु में स्थित है तथा रस की अधिष्ठात्री है। परन्तु इसका ध्यान कण्ठ में स्थित विशुद्ध का चक्र में किया जाता है। इस चक्र में षोडश स्वर—'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ऐ, ऐ, ओ, औ, अं तथा अ:' कमल की कर्णिका में विद्यमान षोडश शक्तियों के रूप में ध्येय है। डाकिनी का स्वरूप इस प्रकार है—

कण्ठस्थाने विशुद्धौ नृपदलकमले श्वेतवर्णां त्रिनेत्रां,
हस्तैः खट्वाङ्गखड्गौ त्रिशिखमपि महाचर्म सन्धारयन्तीम्।
वक्त्रेणैकेन युक्तां, पशुजनभयदां पायसान्नैकसक्तां,
त्वक्स्थां वन्देऽमृताद्यैः परिवृतवपुषं डाकिनीं वीरवन्द्याम्।। — *नित्योत्सव*:, पृ. 150

कण्ठ में स्थित विशुद्धि चक्र के षोडश दल कमल पर श्वेत वर्ण वाली, त्रिनेत्रा, हाथ में खट्वाङ्ग, तलवार, त्रिशूल तथा महाचर्म (ढाल) को धारण करने वाली, पशुरूप पाशबद्ध पुरुष को भयभीत करने वाली योगिनी को प्रणाम करता हूँ। इनका एक मुख है तथा खीर इनका रुचिर भोजन है। इनका निवास त्वचा इन्द्रिय

में है। अमृता, आदि षोडश आवरण शक्तियों से शोभित है तथा 'वीर' योगियों के द्वारा पूज्य डाकिनी योगिनी को नमस्कार करता हूँ।

इसका तात्पर्य है यह श्वेतवर्णा सत्त्वगुणात्मिका होने से है। त्रिनेत्रा चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि रूपी प्रकाश स्वरूपिणी होने से है। हाथों में खड्ग अज्ञान की नाशक, त्रिशूल से त्रिगुणात्मिक है, ढाल से रक्षारूपिणी है। खीर वर्द्धक तथा पौष्टिक भोजन है। 1. अमृता, 2. आकर्षिणी, 3. इन्द्राणी, 4. ईशानी, 5. उमा, 6. ऊर्ध्वकेशी, 7. ऋद्धिदा, 8. ऋकारा, 9. ऌकारा, 10. ॡकारा, 11. एकपदा, 12. ऐश्वर्यात्मिका, 13. ओङ्कारा, 14. औषधि, 5. अम्बिका तथा 16. अक्षरा नामक षोडशमातृका शक्तियों से युक्त होकर त्वक् धातु तथा इन्द्रिय को शुद्ध करती है। इस योगिनी को डाकिनी कहा गया है जो विशुद्धि चक्र की प्राण है तथा इसका देवता जीव, ईश्वर का अंश है तथा महाभूत आकाश तत्त्व है, जिसे हं बीज से बोधित किया है जो आकाश तत्त्व का प्रतिबिम्बित करता है। षोडश स्वर के उच्चारण तथा जप से मन को शुद्ध किया जाता है अत: यहाँ चक्र 'विशुद्धि चक्र' कहा गया है।

यहाँ विचारणीय है कि *षट्चक्रनिरूपण (7)* में डाकिनी की स्थिति मूलाधार में मानी गयी है—

वसेदत्र देवी च डाकिन्यभिख्या लसेद्वाहूज्ज्वला रक्तनेत्रा।
समानोदितानेकसूर्यप्रकाशा प्रकाशं वहन्ती सदा शुद्धबुद्धेः।।

इस मूलाधार चक्र में डाकिनी देवी का निवास जो चार भुजा से शोभित है उनके रक्त वर्ण नेत्र है। वे अनेक सूर्य के एक साथ उदित होने के साथ तेजोमय है तथा शुद्धबुद्धि का प्रकाश करती है। तब जिज्ञासा होती है कि वस्तुत: डाकिनी कहाँ स्थित है तब इसका समाधान *ललितसहस्रनाम स्तोत्र* के द्वारा होता है कि डाकिनी वस्तुत: कण्ठदेश में ही है। यथा—

विशुद्धिचक्र-निलया-ऽऽरक्तवर्णा त्रिलोचना।
खट्वाङ्गादि-प्रहरणा वदनैक-समन्विता॥149॥
पायसान्न-प्रिया त्वक्स्था पशुलोक-भयङ्करी।
अमृतादि-महाशक्ति-संवृत्ता डाकिनीश्वरी॥150॥

श्वेतवर्ण में मिश्रित कुछ रक्तवर्ण वाली, त्रिनेत्रा, विशुद्धिचक्र में रहने वाली, खट्वाङ्ग आदि आयुध को धारण करने वाली, एक मुख से समन्विता, पायसान्न खीर है प्रिय जिसको, ऐसी अमृत आदि षोडश महाशक्ति से आवृत्त डाकिनी नाम की ईश्वरी—ये श्रीललिता के व्यष्टिभेद से नाम है। अत: कण्ठस्थान में डाकिनी का ध्यान करना श्रीविद्या समयाचार मत में सिद्ध होता है। डाकिनी चन्द्रमण्डल की षोडश शक्तियों से समन्वित है अत: अमृतरूपा है। सोलह स्वर वर्णमातृका के सात्त्विक रूप माने गये हैं तथा विना अन्य वर्ण के सहयोग से इनका प्रकाश होता है अत: स्वर कहलाते हैं। चन्द्रमा की षोडश कला ही अमृता आदि मातृकायोगिनी समझनी चाहिए।

राकिणी योगिनी

हृदयकमल के अनाहत चक्र में द्वादश मातृका योगिनी तथा प्रधान राकिणी का चिन्तन करना चाहिए। *नित्योसव,* पृ.151 में इस प्रकार कहा गया है—

हृत्पद्मे भानुपत्रद्विवदनलसितां दंष्ट्रिणीं श्यामवर्णा–
मक्षं शूलं कपालं डमरुमपि भुजैर्धारयन्तीं त्रिनेत्राम्।
रक्तस्थां कालरात्रिप्रभृतिपरिवृतां स्निग्धभक्तैकसक्तां
श्रीमद्वीरेन्द्रवन्द्यामभिमतफलदां राकिणीं भावयामः।।

इस ध्यान में वक्षस्थल के अनाहत चक्र में अवस्थित बारह कर्णिका वाले कमल में श्यामवर्ण वाली, द्विमुखी दंष्ट्रा (कराल दाढ) वाली त्रिनेत्रा, हाथों में अक्ष–माला, शूल, कपाल तथा डमरु को धारण करने वाली चतुर्हस्ता 12 वर्णमातृका योगिनी 1. कालरात्रि, 2. खण्डिता, 3. गायत्री, 4. घण्टाकर्षिणी, 5. ङार्णा, 6. चण्डा, 7. छाया, 8. जया, 9. झङ्कारिणी, 10. ज्ञानरूपा, 11. टङ्कहस्ता तथा 12. ठङ्कारिणी आदि द्वादर्श वर्णों की मातृका योगिनी से परिवृता, रक्त धातु में स्थित, स्निग्ध चावलों के भोजन को पसन्द करने वाली, साधक को अभीष्ट फल प्रदान कराने वाली, वीरभाव में उपासना करने वाले साधकों के द्वारा पूज्य उस राकिणी योगिनी का ध्यान करता हूँ।

राकिणी श्यामवर्णा होने से वायु अथवा श्यामा षोडशी युवती सदृशा सिद्ध होती है। द्विमुखी होने से श्वास व उच्छवास रूपी या अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी मानी गई है अथवा वायु में दो गुण होते हैं—शब्द एवं स्पर्श। ये ही इसके दो मुख हैं। अक्षमाला वर्णमातृका या वाक् तत्त्व का प्रतीक है, शूल तापों का नाशक है, कपाल अहंकार रूपी सांसारिक अविद्या का प्रतीक है, भोजन पात्र भी कपाल है। डमरु ज्ञानप्रद मन्त्र ध्वनि का प्रतीक है। त्रिनेत्रा सूर्य, चन्द्र तथा अग्निरूपा, सृष्टि स्थिति तथा संहार का प्रतीक है। रक्त धतु में स्थित होने से उसकी अधिष्ठात्री है। हृदय में रक्त की शुद्धि होती है तथा उसका चारों तरफ वितरण होना सुसिद्ध है। इसमें द्वादश व्यञ्जन वर्णों की मातृका कालरात्रि आदि अवस्थित है। भास्कर राय के अनुसार इन द्वादश मातृकाओं को तामसी कहा गया है। *श्रीतत्त्वचिन्तामणि* में इसे स्वाधिष्ठान में बताया गया है—

अत्रैव भाति सततं खलु राकिणी सा नीलाम्बुजोदरसहोदरकान्तिशोभा।
नानायुधोद्धतकरैर्लसिताङ्गलक्ष्मीर्दिव्याम्बराभरणभूषितमत्तचित्ता।। – *षट्चक्रनिरूपण–17*

अत: जिज्ञासा होती है कि राकिणी का स्थान कहाँ है? अनाहत में या स्वाधिष्ठान में। *सौभाग्यभास्कर* में इसे अनाहत ही माना है। *ललितासहस्रनाम* में स्पष्ट किया गया (151-152) है, यथा—

अनाहताब्ज–निलया श्यामाभा वदनद्वया।
दंष्ट्रोज्वलाक्षमालादि–धरा रुधिर–संस्थिता ॥151॥
कालरात्र्यादि–शक्त्यौघ–वृता स्निग्धौदन –प्रिया।
महावीरेन्द्र–वरदा राकिण्यम्बा–स्वरूपिणी॥152॥

वराहपुराण के अनुसार कालरात्रि तामसी शक्ति का प्रतीक है जो *सौभाग्यभास्कर* में भास्करराय ने प्रमाणित किया है। यह रौद्री, तमोभवा तथा संहारकारिणी है। 'महावीरेन्द्र' का अर्थ ब्रह्मविद् सिद्ध किया गया है अथवा प्रह्लाद एवं शक्र (इन्द्र) है जो *देवीभागवत* के चतुर्थ स्कन्ध में सैकड़ों दिव्य वर्षों का युद्ध करते हैं। राकिणी ने उन्हें वरदान दिया था। राकिणी सूर्यमण्डल की द्वादश शक्तियों से मण्डित है। यहाँ कामनाओं का वास होता है।

लाकिनी योगिनी

नाभि में स्थित मणिपूरचक्र की कर्णिका में लाकिनी योगिनी तथा उनके दस पत्रों में इन मातृकाओं का– 1.डामरी, 2. ढङ्कारिणी, 3. णार्णा, 4. तामसी, 5. स्थाण्वी, 6. दाक्षायणी, 7. धात्री, 8. नारी, 9. पार्वती तथा 10. फट्कारिणी योगिनी शक्तियों का न्यास करना चाहिए। लाकिनी का ध्यान *नित्याषोडशिकार्णव* (पृ. 152) में इस प्रकार कहा गया है—

दिक्पत्रे नाभिपद्मे त्रिवदनलसितां दंष्ट्रिणीं रक्तवर्णां
शक्तिं दम्भोलिदण्डावभयमपि भुजैर्धारयन्तीं महोग्राम्
डामर्याद्यैः परीतां पशुजनभयदां मांसधात्वेकनिष्ठां
गौडान्नासक्तचित्तां सकलसुखकरीं लाकिनीं भावयामः।।

नाभि के दशदल कमल के मणिपूर चक्र में तीनमुख वाली, लाल रङ्ग वाली, कराल दाढ वाली, हाथ में वज्र, दण्ड, शक्ति और अभय मुद्रा को धारण करने वाली, डामरी आदि दस मातृका योगिनी से घिरी हुई, पाशबद्ध पुरुषों को भय देने वाली, मांस धातु में स्थित तथा गुड़ के पक्वान्न को पसन्द करने वाली, सबको सुखी करने वाली लाकिनी की भावना करता हूँ।

लाकिनी मांस में स्थित है। यह उसकी अधिष्ठात्री देवी है। त्रिमुखी कहने से वात-पित्त एवं कफ का स्वरूप माना जा सकता है। जठर में अग्नि रहती है अत: यह चक्र अग्नि तत्त्व का प्रतीक है। अग्नि में तीन गुण हैं—शब्द, रूप और स्पर्श। अग्नि का प्रसार ऊपर, बायें तथा दायें होता है जो इसके त्रिमुखी होने का तात्पर्य है। इसका रक्तवर्णा भी अग्निस्वरूप का द्योतक है। दाढे अन्त्र रूपिणी होने से भोजन को पचाती है। इसके आयुध शक्ति क्षमा का, वज्र से विद्युत्प्रभा, दण्ड से पालिका स्वरूपिणी, अभय से भय नाशिनी की सिद्ध होती है। शक्ति अग्नि का आयुध है तथा व्रज इन्द्र का आयुध है। डामरी से फट्कारिणी तक 10 मातृका योगिनी पूर्व में उल्लिखित, से यह चक्र विभूषित है। षट् चक्रनिरूपण के 21वें श्लोक में इसे नाभि में ही बताया है। जो *ललितासहस्रनाम* से भी पुष्ट होता है। *ललितासहस्रनाम* में कहा गया है कि लाकिन्यम्बा का स्वरूप है–

मणिपूराब्ज –निलया वदनत्रय–संयुता।
वज्रादिकायुधोपेता डामर्यादिभि–रावृता ॥153 ॥
रक्तवर्णा मांसनिष्ठा गुडान्न–प्रीत–मानसा।
समस्तभक्त–सुखदा लाकिन्यम्बा–स्वरूपिणी ॥154॥

लाकिनी सभी भक्तों को सुख देनी वाली है। विष्णुरूपिणी है। पालिका शक्ति है। अग्निमण्डल में दस शक्तियाँ होती है जो मातृका योगिनी है। जठराग्नि में भोजन का हवन होता है उससे मणिरूपी तेज की प्राप्ति होती है। इसे मणियों से पूरित माना गया है।

काकिनी योगिनी

स्वाधिष्ठान में काकिनी योगिनी छह मातृकायोगिनी के साथ समवस्थित है। इसका निरूपण नित्योसव, पृ. 152 में इस प्रकार किया गया है—

स्वाधिष्ठानाख्यपद्मे रसदललसिते वेदवक्त्रां त्रिनेत्रां,
हस्ताब्जैर्धारयन्तीं त्रिशिखगुणकपालाङ्कुशानात्तगर्वाम्।
मेदोधातुप्रतिष्ठामलिमदमुदितां बन्धिनीमुख्ययुक्तां,
पीतां दध्योदनेष्टामभिमतफलदां काकिनीं भावयामः।।

षड्दल पद्म स्वाधिष्ठान है, जिसमें चारमुखी त्रिनेत्रा, हाथ में त्रिशिख (त्रिशूल), गुण (पाश या 5 बाण के साथ धनुष), कपाल तथा अङ्कुश या अभय को धारण करने वाली, गर्विणी, मेदो धातु में प्रतिष्ठित, भ्रमरों से युक्त मद से मुदित, बन्धिनी आदि छह मातृका योगिनी (1. बन्धिनी, 2. भद्रकाली, 3. महामाया, 4. यशस्विनी, 5. रक्ता तथा 6. लम्बौष्ठी) से युक्त, पीले रङ्गवाली, दधि और भात में आसक्त तथा अभीष्ट फल को देने वाली काकिनी योगिनी का ध्यान करता हूँ।

यह काकिनी पीतवर्णा है। जल की अधिष्ठात्री शक्ति है अतः चारमुखी है। जल में चार गुण होते हैं— शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस। इस प्रकार चारों दिशा में रसमयी होने के कारण मद से अन्विता है। इसके आयुध त्रिशूल त्रिविध ताप का नाशक, गुण का अर्थ रस्सी है तो राग रूपी पाश का प्रतीक है। यदि धनुष की रस्सी है पाँच बाणों के साथ धनुष मन के पाँच कुसुमायुध का प्रतीक है जो कामशक्ति को द्योतित करता है। कपाल खोपड़ी को भी कहते हैं तथा भिक्षा पात्र भी कहा गया है। शिव कपाल को धारण करते हैं। अङ्कुश क्रोध या द्वेष को बताता है। परन्तु भास्कर राय ने *ललितासहस्रनाम* के भाष्य में अभय मुद्रा का पाठ लिखा है अर्थात् काकिनी अभय प्रदान करती है। *ललितासहस्रनाम* में लिखा है—

स्वाधिष्ठानाम्बुजगता चतुर्वक्त्र–मनोहरा।
शूलाययुध–सम्पन्ना पीतवर्णातिगर्विता ॥155॥
मेदो–निष्ठा मधुप्रीता बन्धिन्यादि –समन्विता।
दध्यन्नासक्त–हृदया काकिनी–रूप–धारिणी॥156॥

काकिनी का स्थान स्वाधिष्ठान ही सिद्ध होता है जबकि षट्चक्र निरूपण के 24वें श्लोक में इसे अनाहत चक्र में माना है। यह समयाचार में *ललितासहस्रनाम* का मत ही ठीक है। ब्रह्मा चतुर्मुख है अतः

स्वाधिष्ठान चक्र में ब्रह्मा का ही ध्यान किया जाता है अत: उसकी शक्ति चतुर्मुखी होनी चाहिए। जल प्रथम सृष्टि है तथा उसकी गति चारों दिशा में होती है।

साकिनी योगिनी

गुदा और लिङ्ग के मध्य स्थित मूलाधार में साकिनी प्रधान योगिनी है तथा उस कमल के चार दलों पर चार मातृका योगिनी संस्थित है, *नित्योत्सव,* पृ. 153 के अनुसार इनका ध्यान इस प्रकार किया जाता है–

मूलाधारस्य पत्रे श्रुतिदललसिते पञ्चवक्त्रां त्रिनेत्रां
धूम्राभामस्थिसंस्थां सृणिमपि कमलं पुस्तकं ज्ञानमुद्राम्।
बिभ्राणां बाहुदण्डैः सुललितवरदापूर्वशक्त्यावृतां तां
मुद्गान्नासक्तचित्तां मधुमदमुदितां साकिनीं भावयामः।।

मूलाधार में स्थित चतुर्दल कमल में विराजित, पाँच मुखवाली, त्रिनेत्रा, धूम्र वर्ण वाली, अस्थियों में स्थित, हाथ में अङ्कुश, कमल, पुस्तक तथा ज्ञानमुद्रा को धारण करने वाली– 1.वरदा, 2. श्री, 3. षण्डा तथा 4. सरस्वती नामक चार मातृका योगिनियों से मण्डित, मुद्ग (मूँग) भात में आसक्त, माधवी के मद से मुदित साकिनीयोगिनी का ध्यान करता हूँ।

पृथिवी के अधिष्ठाता देव शिव पाँच मुखों से युक्त हैं। अत: साकिनी पञ्चमुखी है। यहाँ पञ्चमुखी से पृथिवी के पाँच गुणों का संकेत हैं—रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श। आयुध अङ्कुश, क्रोध या द्वेष का, कमल आधार का, पुस्तक ब्रह्मविद्या का, ज्ञान मुद्रा पराशक्ति कुण्डलिनी का प्रतीक है। अस्थि पांचवी धातु है दृढ़ता तथा ठोस रूप पृथिवी की तरह धार कर लेती है। अत: शक्ति स्वरूपिणी हो जाती है जिसमें कोई बदलाव सम्भव नहीं है। परा वाक् का यही स्थान है जो अव्यक्त रहती है। मन्त्रसाधना से ही इसे कोई-कोई जगा पाता है। तब ही षट्चक्र का भेद हो जाता है। *षट्चक्रनिरूपण* के 30वें श्लोक में साकिनी को विशुद्धि चक्र में ध्येया बताया है जबकि *ललितासहस्रनाम* में इसे मूलाधार में बताया है—

मूलाधाराम्बुजारूढा पञ्चवक्त्रास्थि–संस्थिता।
अङ्कुशादि–प्रहरणा वरदादि–निषेविता॥157॥
मुद्गौदनासक्त–चित्ता साकिन्यम्बा–स्वरूपिणी।
आज्ञा–चक्राब्ज–निलया शुक्लवर्णा षडानना॥158॥

अत: साकिनी की मूलाधार में स्थिति माननी चाहिये। *सौभाग्यभास्करभाष्य* में भास्कर राय ने मुद्गौदन बनाने की प्रक्रिया स्पष्ट की है कि 1 प्रस्थ चावल, आधे मूँग की दाल, चार पल गुड़,, 4 पल नारियल, मुट्ठीभर मिर्च, उससे आधा सैन्धा नमक, उससे आधा जीरा, थोड़ा घी, इसके अनुरूप गो दूध लेकर 'खीचड़ी' पकाए मन्द अग्नि पर। तब मुद्गौदन निर्मित होता है जो साकिनी को अतिप्रिय है। इस चक्र में ज्ञान

एवं इच्छा मूल रूप में रहती है अर्थात् सुप्त एवं निष्क्रिय रूप में। अत: मूलाधार कहा गया है जो परावाणी का स्थान है। यहाँ से परावाणी नाभि में जाकर पश्यन्ती अर्थात् इच्छारूप में व्यक्त होती है तथा हृदय में क्रिया से युक्त होकर कण्ठ देश में बैखरी रूप में बाहर प्रकट होता है। जीव के वाक् एवं ज्ञान का मूलस्थान है इसे ही सुप्त कुण्डलिनी कही गई है।

हाकिनी योगिनी

आज्ञाचक्र में द्विदल कमल में हाकिनी योगिनी का 2 मातृकाओं की योगिनी के साथ ध्यान *नित्योत्सव,* पृ. 154 में इस प्रकार किया गया है—

भ्रूमध्ये बिन्दुपद्मे दलयुगकलिते शुक्लवर्णां कराब्जै-
र्बिभ्राणां ज्ञानमुद्रां डमरुकममलामक्षमालां कपालम्।
षड्वक्त्रां मज्जसंस्थां त्रिनयनलसितां हंसवत्यादियुक्तां,
हारिद्रान्नैकसक्तां सकलसुखकरीं हाकिनीं भावयाम:।।

भ्रूमध्य में स्थित आज्ञा चक्र के द्विदल कमल में हाकिनी योगिनी का ध्यान करता हूँ जो शुक्लवर्णा, षण्मुखी और त्रिनेत्रा है। अपने करकमलों में ज्ञानमुद्रा, डमरु, अमला अक्षमाला तथा कपाल को धारण करती हैं। यह योगिनी मज्जा में संस्थित है तथा हंसवती एवं क्षमावती इन दो वर्णमातृका योगिनी से युक्त है। हरिद्रायुक्त अन्न में रुचि रखने वाली, सकल सुखकरी हाकिनी योगिनी का चिन्तन करते हैं।

षट् चक्रनिरूपण के 32वें पद्य में हाकिनी का वर्णन प्राय: इसी प्रकार किया है—

अज्ञानाम्बुजं तद्धिमकरसदृशं ध्यानधामप्रकाशम्।
हक्षाभ्यां वै कलाभ्यां परिलसितवपुर्नेत्रपत्रं सुशुभ्रम्।।
तन्मध्ये हाकिनी सा शशिसमधवला वक्त्रषट्कं दधाना।
विद्यामुद्रां कपालं डमरुजपवटीं बिभ्रती शुद्धचिता।।

हाकिनी शक्ति श्वेतवर्णा होने से सत्त्वस्वरूपा है। षण्मुखी से पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन इन्द्रिय गृहीत होती है। हाथ की ज्ञानमुद्रा ज्ञान की प्रतीक है, अक्षमाला वर्णमातृका की, डमरु से सर्वनादस्वरूपा कपाल पात्र या सांसारिक ज्ञान का प्रतीक है। मज्जा की अधिष्ठात्री शक्ति हाकिनी है। यह चक्र मन का मूल स्थान है। हरिद्रायुक्त भात इसे विशेष प्रिय है। *ललितासहस्रनाम* में भी कहा है—

मुद्गौदनासक्त-चित्ता साकिन्यम्बा-स्वरूपिणी।
आज्ञा-चक्राब्ज-निलया शुक्लवर्णा षडानना॥158॥
मज्जा-संस्था हंसवती मुख्य-शक्ति-समन्विता।
हरिद्रान्नैक-रसिका हाकिनी-रूप-धारिणी ॥159॥

मज्जा की अधिष्ठात्री हाकिनी देवी अत्यन्त शक्तिशाली है। भ्रूमध्य चन्द्र के समान शीतल है अत: अमृत का स्थान है। अत: श्वेत वर्णा कहा गया है। अमृत के पान से हाकिनी को अमृतपान की योगिनी भी कहा गया है। यहाँ मन का स्थान है षट्चक्रों के पूर्ण होने के बाद आगे ऊपर दश आधार चक्र भी क्रमश: है। यही प्रणव का स्थान, गुरु का स्थान एवं परम शिव का भी स्थान माना गया है। *भगवद्गीता* के आठवें अध्याय के दसवें श्लोक में यहाँ प्राणों का आदेश कर प्राण त्याग से मुक्ति प्रतिपादित है—

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्यायुक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।

इसके ध्यान से परमपुरुष को प्राप्त किया जाता है।

याकिनी योगिनी

नित्योत्सव, पृ. 155 में याकिनीयोगिनी का ध्यान सहस्रमातृका योगिनियों के साथ इस प्रकार उल्लिखित हुआ है—

मुण्डव्योमस्थपद्मे दशशतदलके कर्णिकाचन्द्रसंस्थां,
रेतोनिष्ठां समस्तायुधकलितकरां सर्वतो वक्त्रपद्माम्।
आदिक्षान्तार्णशक्तिप्रकरपरिवृतां सर्ववर्णां भवानीं
सर्वान्नासक्तचित्तां परशिवरसिकां याकिनीं भावयामः।।

मुण्ड के आकाश में स्थित सहस्रार कमल की कर्णिका के चन्द्र में स्थित याकिनी का ध्यान करता हूँ। यह रेतो (वीर्य) में स्थित है, पूर्वोक्त सभी आयुधों को धारण करती है, इसके मुखकमल चारों तरफ हैं। अ से क्ष तक 50 वर्ण मातृकाएँ हैं उनको 20 बार स्थापित करने से सहस्रदल की सभी पंखुरियों में सहस्र मातृका योगिनी स्थापित हो जाती है। यह भवानी सर्ववर्णा है तथा सब तरह के भोजन में रुचि रखती है। परम शिव से अभेद स्वरूप याकिनी शक्ति का चिन्तन करता हूँ। इसमें डाकिनी से याकिनी तक की समस्त योगिनी शक्ति समाविष्ट है। अत: सर्वप्रधाना है तथा सर्वस्वरूपा है।

याकिनी सर्ववर्णमयी होने से विश्वरूपिणी है। यह शुक्र (वीर्य) की अधिष्ठात्री होने से विश्वबीजा है। सहस्रशीर्ष पुरुष की तरह हजार मुखवाली का तात्पर्य परमपूर्ण मुख्य शक्ति होने से है। समस्त धातुओं की समष्टिरूपिणी है। शुक्र को शोधित करती है। सर्व अन्न को ग्रहण करती है अत: सर्वात्मिका सर्ववर्णात्मिका है। परशिव में रुचि होने पर शिव की रसिका मानी गई है।

ललितासहस्रनाम में इस प्रधान योगिनी के नाम इस प्रकार है—

सहस्रदल–पद्मस्था सर्व–वर्णोप–शोभिता।
सर्वायुध–धरा शुक्र–संस्थिता सर्वतोमुखी॥160॥
सर्वौदन –प्रीतचित्ता याकिन्यम्बा –स्वरूपिणी।

यहाँ भास्कर्राय ने सर्ववर्ण मातृका को अमृता से क्षमावती तक 50 वर्णस्वरूपिणी को अनुलोम एवं विलोम क्रम से जपकर 100 संख्या बताई फिर उनकी दस आवृत्ति कर 1000 संख्या को सिद्ध किया है। *भविष्योत्तर पुराण* के अनुसार रमणकालीन ध्यान में शुक्ल संस्थिता का ध्यान किया जाता है तब परमानन्द की प्राप्ति होती है। सभी दिशाओं में मुख होने से सर्वतोमुखी है। दुर्गासप्तशती के ग्यारहवें अध्याय का श्लोक तुलनीय है—

सर्वत: पाणिपादान्त्रे सर्वतोऽक्षिशिरोमुखे।
सर्वत: श्रवणघ्राणे नारायणि! नमोऽस्तुते।।

अत: याकिनी परब्रह्मस्वरूपिणी है। यह सिद्ध होता है। यजुर्वेद में सहस्रहस्त की चर्चा है—'सहस्राणि सहस्रशो बाह्वस्तव हेतय:।' इन साठ नामों से सहस्रनाम में भगवती ललिता की स्तुति है। यद्यपि भास्कर्राय इनको बासठ नाम कहते हैं। किन्हीं-किन्हीं नामों का विच्छेद कर यह गणना कर रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है। *त्रिशतीस्तोत्र* में ककाररूप (30वें श्लोक) लकाररूपा तथा लाकिनी (42वें श्लोक में), हाकिनी (60वें श्लोक में), ककारिणी (75वें श्लोक में) लकारिणी (80वें श्लोक में) इत्यादि नामों से इन योगिनियों को संकेतित किया गया है। लाकिनी तथा हाकिनी का नाम तो स्पष्टत: उल्लिखित है। अत: श्रीललितात्रिपुरसुन्दरी तथा इन सात योगिनी को एक ही मानना चाहिए। श्रीयन्त्र के षडाधार पूजन *श्रीविद्यारत्नाकर* (पृ. 186) से साकिनी-गणेश, काकिनी-ब्रह्मा, लाकिनी-विष्णु, राकिणी-परमशिव तथा डाकिनी-जीवेश्वर एवं हाकिनी-परमात्मा का ऐक्य सिद्ध होता है। याकिनी स्वयं भगवती है। महा षोढान्यास के भुवनन्यास *श्रीविद्यारत्नाकर* (पृ. 137-138) के अनुसार भू:, भुव, स्व:, मह:, जन:, तप: तथा सत्यलोक की ही अधिष्ठात्री सात योगिनी देवता है। अत: इन्हें महाव्याहृतियों से भी कहा गया है, यह सिद्ध होता है। षट्चक्र साधना में पचास वर्णों के स्वरूप को सभी सम्प्रदाय एक जैसा ही स्वीकार करते हैं। वस्तुत: वर्णमातृका (शब्दब्रह्म) ही परब्रह्म (परमेश्वरी) के पास ले जाने का एकमात्र शास्त्रीय मार्ग है। अन्य कोई मार्ग नहीं है।

पूर्व अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
55, गोविन्द नगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302021

मनोवृत्तियों और आचरण का परिशोधक महाभारतीय धर्म

डॉ. राजकुमारी त्रिखा

भारतीय संस्कृति में में चराचर जगत् के संरक्षण और आत्यन्तिक कल्याण के लिए समर्पण भाव का समावेश पदे-पदे दिखाई देता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्वेत्।।

यह उद्गार ऋषि की विश्वकल्याण की सद्भावना का द्योतक है। यहाँ किसी वर्गविशेष, धर्मविशेष, जातिविशेष अथवा लिङ्ग विशेष के कल्याण की कामना की अभिव्यक्ति नहीं है। बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण की शुभकामना की गई है। मनुष्य तो क्या ऋषियों ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, वनस्पति आदि सुप्त चैतन्यात्मक जड़ जगत् की भी मंगलकामना करते हुए प्रार्थना की है—

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षम् शान्तिः पृथिवी, शान्तिरापः शान्तिरोषधयः, शान्तिः
वनस्पतयः, शान्तिः विश्वेदेवाः, शान्तिः ब्रह्म, शान्तिः सर्वं, शान्तिः, शान्तिरेव शान्तिः
सा मा शान्तिरेधि, ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

ऋषियों ने सम्पूर्ण सृष्टि शान्ति और सुखपूर्वक कैसे चले, इस दिशा में भी गम्भीर चिन्तन किया। परिणामस्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रह्माण्ड के सन्तुलित और सुव्यवस्थित संचालन के लिए कुछ नियमों का पालन करना और कुछ क्रियाकलापों का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की भावना ने सामाजिक प्राणी, मानव के समक्ष धर्म का स्वरूप प्रस्तुत कर दिया। मनुष्य का धर्म है कि वह अपनी आन्तरिक वृत्तियों और बाह्य व्यवहार का परिशोधन करे, अपने मूल स्वरूप को जीवन में व्यक्त करे। यही शुद्ध स्वरूप का अनुभव व ज्ञान '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' की श्रेष्ठतम भावनाओं को स्फुरित करके विश्वकल्याण को सहज साध्य बना सकता है।

इसी भावना से ऋषियों ने कुछ नियम निश्चित किये तथा उन नियमों के अनुसार आचरण पर बल दिया। स्थूल रूप से हम इन नियमों को दो रूपों में देख सकते हैं। एक रूप है मानवीय आध्यात्मिक शक्तियों का उस चरम बिन्दु तक विकास, जहाँ मनुष्य में देवत्व का अवतरण हो जाता है। मन, वचन और कर्म में एकरूपता

आ जाती है। तब मनुष्य के विचार और व्यवहार, जीव कल्याण की भावना से ओत-प्रोत रहते हैं। ये नियम सार्वभौम, सार्वकालिक और सार्वजनीन होते हैं।

पालनीय नियमों का दूसरा रूप बाह्य आचरण है जो देश, काल, पात्र के अनुरूप आचार संहिता प्रस्तुत करता है और आवश्यकतानुसार यथोचित परिवर्तन करके लोकमंगल का मार्ग प्रशस्त करता है।

भारतीय चिन्तकों ने भी इस नियमावली अर्थात् आचार संहिता के चिन्तन को जारी रखा और समय-समय पर इसमें युगानुकूल नये-नये आचार नियमों को जोड़ा गया। आन्तरिक वृत्तियों के परिशोधन और लोककल्याणकारी आचरण को जीवन में पालन करने पर बल दिया गया और धारण किये जाने के कारण इन नियमों को धर्म का नाम दिया गया। धर्म की व्याख्या समझाते हुए भीष्म पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं—

यत् स्याद्धारणासंयुक्तं स धर्मो इति निश्चयः। *(महाभारत, शान्तिपर्व, 109.11)*

यदि आचार विचार शुद्ध नहीं है, तो वह धर्म नहीं है क्योंकि शुद्ध आचार-विचार को ही धर्म का प्रधान लक्षण माना गया है। शान्तिपर्व में कहा गया है—

आचारमेव मन्यन्ते गरीयो धर्मलक्षणम्। *(महाभारत, शान्तिपर्व, 132.15)*

समय-समय पर आन्तरिक तथा बाह्य आचरण की शुद्धि के विषय में ऋषि परम्परा में विचार मन्थन चलता रहा और आत्मदर्शन रूप धर्म के चिन्तन का परिणाम षड्दर्शनों के प्रादुर्भाव के रूप में हुआ। बाह्य आचार शुद्धि के विषय में चिन्तन के परिणामस्वरूप धर्म की अनेक परिभाषाएँ सामने आई। धर्म के इस रूप के निरूपण में अनेक ऋषियों का योगदान है। अत: इसे सनातन धर्म, वैदिक धर्म, हिन्दू धर्म कहा जाता है। यह धर्म मुस्लिम ईसाई आदि अन्य धर्मों की भाँति, किसी एक व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित धर्म नहीं है। बल्कि समय-समय पर अनेक प्रबुद्ध चिन्तकों, नीतिज्ञों और ऋषि मुनियों ने धर्म की अवधारणा के विकास में योगदान दिया है। धर्म की यह विचारधारा अनादिकाल से आज तक निरन्तर प्रवाहित है। परन्तु समय के साथ-साथ धर्म का स्वरूप समझने में भयंकर भूल हुई और धर्म को किसी समुदाय विशेष की पूजापद्धति समझ लिया गया। इस भूल ने धार्मिक विद्वेष का बीज बो दिया, जिसका घृणित रूप हमें साम्प्रदायिक दंगों के रूप में दिखाई देता है। धर्म को जीवन में धारण करने की मूलभूत अवधारणा को लोगों ने भुला दिया और धर्म की आड़ में अनेक दुराचार पनपने लगे।

अत: धर्म के मूल स्वरूप को समझना अत्यावश्यक है। संक्षेप में पुन: समझ लें कि धर्म आन्तरिक मनोवृत्तियों का शोधन है, और बाह्य व्यवहार का ऐसा परिशोधन है, जो सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय हो। बाह्य व्यवहार का मानदण्ड देश, काल, पात्र और परिस्थितियों के अनुसार बदलता है। अत: धर्म की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं।

मनुस्मृति में दस सद्गुणों को धर्म का लक्षण माना है। तदनुसार धैर्य, क्षमा, आत्मनियन्त्रण, चोरी न करना, स्वच्छता रखना, इन्द्रिय निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध न करना—ये बाह्य आचरण धर्म के लक्षण हैं।[1] निस्सन्देह ये सद्गुण व्यक्ति तथा समाज के सुचारु तथा व्यवस्थित सर्वांगीण विकास में सहायक हैं। इन गुणों के अभाव में मनुष्य तथा पशु के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं रहता, क्योंकि भोजन करना, सोना, मैथुन, भय का भाव, ये प्राकृतिक सहज ज्ञान मनुष्य तथा पशु, दोनों में ही प्राकृतिक रूप से पाया जाता है। केवल शुद्ध आचरण ही मनुष्य और पशु का भेदक तत्त्व है। इसीलिए कहा गया है—

धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

ऋषियों का धर्म सम्बन्धी चिन्तन लगातार चलता रहा और समय-समय पर अनेक अन्य सद्गुणों को इस सूची में जोड़ा जाता रहा। *श्रीमद्भगवद्गीता* में शुद्ध व्यवहार सूचक गुणों को दैवी सम्पदा कहा गया और इसमें मन की निर्मलता, सरलता, त्याग, अभिमान का अभाव, चंचलता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, किसी से द्रोह न करना और निर्भयता के गुणों को जोड़ दिया गया।[2] महाभारत में कहा गया है—"पराये धन का हरण मत करो, यही सनातन धर्म है।"[3] किसी धार्मिक अनुष्ठान में भी यदि हिंसा की जाये, तो वह धर्म नहीं है।[4] इससे स्पष्ट होता है कि यज्ञों में पशुबलि देना धर्म नहीं माना जाता था। धर्म किसी भी प्राणी को कष्ट देने की अनुमति नहीं देता। भीष्म पितामह कहते हैं—"सबके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करने से, जो प्राप्त होता है, वह सब धर्म है, और इसके विपरीत आचरण अधर्म है।"[5] भारतीय दर्शन का सिद्धान्त है कि चराचर जगत् में परब्रह्म व्याप्त है। अतः जब किसी जीव-जन्तु को अथवा व्यक्ति को, कोई मनुष्य कष्ट देता है, तो वह मनुष्य पीड़ित व्यक्ति अथवा जीव-जन्तु में सन्निविष्ट परमात्मा को ही दुःख देता है। अतः *पद्मपुराण* में अत्यन्त संक्षेप में एक ही गुण को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए कहा है—जो व्यवहार तुम्हें रुचिकर नहीं लगता, वैसा व्यवहार दूसरों के साथ मत करो।[6] अपनी जिम्मेदारी, अपने-अपने कर्त्तव्यों का ईमानदारीपूर्वक निर्वहन करना, धर्म की मुख्य शर्त है। इतना ही नहीं अपने आचरण से किसी और व्यक्ति के धर्मपालन में बाधा न पड़े, इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है, क्योंकि यदि हमारे धर्मपालन से किसी अन्य व्यक्ति के कर्तव्यपालन में बाधा पड़ती हो, तो वह धर्म नहीं, बल्कि कुधर्म माना गया है।[7] धर्मपालन करते समय इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि हमारे धर्मपालन के कार्य करने से कोई पापकर्म तो नहीं हो रहा है।[8]

अनेक बार जीवन में बहुत विषम स्थिति आ जाती है। कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, धर्म और अधर्म को निश्चय करना कठिन हो जाता है। कभी तो देश तथा काल के अनुसार धर्म ही अधर्म बन जाता है और उस आपाततः धर्म प्रतीत होने वाले आचरण से, व्यक्ति को पाप का ही फल मिलता है और कभी आपाततः पाप प्रतीत होने वाले और निर्दयतापूर्वक किये हुए कर्म का फल भी स्वर्गप्राप्ति के रूप में मिलता है।[9] जैसे यदि चोर डाकू किसी धनी व्यक्ति का पता पूछे और उस धनी का ठीक-ठीक पता यदि कोई व्यक्ति बता दें, तो उस सत्यभाषण का फल होगा कि डाकू उस धनी व्यक्ति का धन तथा प्राण तक भी हरण कर लेंगे। ऐसी स्थिति में सत्य बोलना धर्म नहीं अधर्म

का फल देगा। यदि झूठ बोलते हुए, धनी व्यक्ति का गलत पता दिया जाये, तो यह असत्यभाष्ण, धनी के प्राण और धन की रक्षा करने के कारण, अधर्म नहीं बल्कि धर्म बन जाता है।[10]

अब प्रश्न उठता है कि धर्म और अधर्म का तथा उचित और अनुचित का निर्णय किस प्रकार किया जाये? महाभारत में इस सम्बन्ध में दो उपाय बताये गये हैं। भीष्म पितामह कहते हैं—"धर्म का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, तथा इसमें अनेक अपवाद भी छिपे हुए हैं। अत: महापुरुषों के आचरण से धर्म का ज्ञान प्राप्त करो।"[11] अर्थात् '**महाजनो येन गत: स पन्था:**।' शिष्टाचरण से दिशा निर्देश मिलता है कि क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित। परन्तु शिष्टाचरण नियामक नहीं है। इसी प्रसंग में आगे महत्त्वपूर्ण शिक्षा दी गई है कि अपने विवेक से उचित/अनुचित का विचार करो और कभी भी विवेकहीन होकर लोकाचार का अन्धानुसरण मत करो।

धर्माधर्म निश्चय करने का दूसरा मापदण्ड है कि किसी कार्य को करने का हेतु और परिणाम पर विचार करो।[12] यदि किसी कार्य को करने का परिणाम लोककल्याण है और यदि आपातत: पाप प्रतीत होता हो, तो वह कार्य अधर्म नहीं, बल्कि धर्म बन जाता है। जैसे समाज को दु:ख देने वाले अत्याचारी का वध करने से सम्पूर्ण समाज सुखी हो जाता है, तो उस अत्याचारी का वध करना अधर्म नहीं धर्म है।

विवेकपूर्वक धर्माधर्म का निश्चय करके, धर्म का पालन करते हुए अपनी मनोवृत्तियों और आचरण का परिशोधन करना चाहिए। यही परिशुद्धि वास्तविक धर्म है, न कोई पूजापद्धति। अनेक बार लोग बाहरी दिखावे के लिए धार्मिक होने का ढोंग करते हैं और धर्म की आड़ में अनेक पाप करते हैं। ऐसे लोगों के आचरण का वैडाल व्रत कहा गया है।[13] अर्थात् नौ सौ चूहे खा कर बिल्ली हज को चली। धर्म के पालन से ही व्यक्तिगत, सामाजिक और वैश्विक जीवन सन्तुलित और व्यवस्थित रूप से चलता है। आन्तरिक वृत्तियों और बाह्य व्यवहार के लिए नियमों का प्रतिपादन करने का मुख्य कारण भी समाज में सुचारु रूप से जीवन यापन करना सुगम बनाना था। महाभारतकार कहते हैं—"ऋषियों ने लोकयात्रा के उद्देश्य से ही धर्म के नियम बनाये हैं।"[14] नीतिशास्त्रकारों का कथन है—इस ब्रह्मावर्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों अर्थात् विद्वानों के सान्निध्य से पृथ्वी पर रहने वाले सभी मनुष्य अपने-अपने आचरण और कर्त्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करें।[15]

धर्म का महत्त्व समझने के बाद अधर्म के परिणाम समझना भी आवश्यक है, तभी व्यक्ति निष्ठापूर्वक स्वधर्मपालन करेगा। धर्म की राह पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान है, क्योंकि मानव मन सदा सरलतापूर्वक मिलने वाले सुख, सम्पत्ति आदि संसाधनों की ओर जाने के लिए मचलता है। परन्तु यदि अधर्म के मार्ग पर जाया जाये, तो अनेक हानियाँ होती हैं। अधर्म का फल बहुत धीरे-धीरे मिलता है। प्रारम्भ में तो अधार्मिक आचरण से व्यक्ति की उन्नति होती है। सुख, सम्पत्ति और यश प्राप्त होता है। व्यक्ति अपने प्रतिस्पर्धियों पर विजय प्राप्त करता है। परन्तु कुछ समय बाद अधर्म उस व्यक्ति का समूल नाश कर देता है।[16] जिस प्रकार धरती में बोया बीज, कुछ समय पश्चात् ही फसल देता है, उसी प्रकार अधर्म का अनुसरण धीरे-धीरे कर्त्ता की

जड़े ही काट डालता है। जिस प्रकार गरिष्ठ भोजन खाने पर प्रारम्भ में स्वादिष्ट लगता है और पेट में कोई पीड़ा नहीं होती, परन्तु कुछ देर बाद उदरशूल, कब्ज अथवा दस्त जैसे उपद्रव उत्पन्न करता है। इसी प्रकार किया हुआ पाप भी निश्चय ही अपना फल देता है। कभी-कभी पाप का परिणाम, अगली पीढ़ी में पुत्र, पौत्र और दौहित्र आदि भी भोगते हैं, क्योंकि पाप से अर्जित धन, सुख-सुविधाओं का वे उपभोग करते हैं।[17]

ऋषियों ने धर्म का महत्त्व समझाते हुए, अधर्म की राह पर न चलने के लिए कहा—यदि तुम धर्म की रक्षा करोगे, तो धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा, और यदि तुम धर्म को कुचलोगे, तो धर्म तुम को ही कुचल डालेगा।[18] इतनी चेतावनी के बावजूद भी मनुष्य धर्म का उल्लंघन करता आया है। कहावत है—'चोरी का गुड़ मीठा।' अर्थात् चुरा कर खाया गया गुड़ अधिक मीठा लगता है। इसी प्रकार धर्म के नियमों का उल्लंघन करके मिली वस्तु अधिक प्रिय लगती है। मनुष्य का सहज स्वभाव है मनमर्जी अनुसार व्यवहार करना। तभी वेदव्यास जी को अत्यन्त दु:खपूर्वक कहना पड़ा—मैं भुजा उठाकर चिल्ला चिल्ला कर कहता हूँ। लेकिन कोई मेरी बात नहीं सुनता। धर्म से ही अर्थ और काम सिद्ध होते हैं, तो लोग धर्म का सेवन क्यों नहीं करते।[19]

धर्म का अतिक्रमण का एक और मनोवैज्ञानिक कारण है। मनुष्य के अन्तर्मन में स्वच्छन्दता के साथ यह भाव भी रहता है कि धर्म का पालन तो डरपोक और दुर्बल लोग करते हैं। अधर्म आचरण को वह साहसिक कार्य समझता है। परन्तु वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है। जो मन में उठती हुई अधार्मिक इच्छा को नियन्त्रित कर सकता है, वही धर्म का आचरण कर सकता है। आत्मनियन्त्रण करना अत्यधिक कठिन कार्य है और जो कर सकता है, वह वीर है। जिसने अपने मन पर विजय नहीं पाई, वह तो दुर्बल व्यक्ति है। अत: महाभारत की मान्यता है—जिसके पास बल (आत्मिक बल) और ओज है, वही व्यक्ति धर्म के अनुसार आचरण कर सकता है।[20]

मानवीय सहज प्रवृत्ति होने पर भी, किसी भी व्यक्ति को समाज में अशान्ति फैलाने और अन्य लोगों को कष्ट देने, अधर्माचरण करने की छूट नहीं दी जा सकती। दण्ड द्वारा उनका निग्रह अत्यन्त आवश्यक है। अत: दण्ड व्यवस्था का समुचित होना बहुत आवश्यक है। राजा त्वरित तथा विशुद्ध न्याय और दण्ड की सहायता से अपराधियों का दमन करके धर्म की स्थापना करता है। प्रजा से धर्म का पालन करवाना राजा का कर्त्तव्य है, तभी जनता धर्म के मार्ग पर चलेगी।[21] अत: धोखेबाजी, ठगी, छल, चोरी, हत्या आदि कुकर्म करने वाले का वध करना सनातन धर्म कहा गया है।[22] यदि एक अपराधी को बिना दण्ड दिये छोड़ दिया जाता है तो उसकी देखा-देखी अन्य अनुशासनहीन दुराचारी भी अधर्म का आचरण करने लगेंगे, जिससे समाज की शान्ति और देश की सुरक्षा नष्ट भ्रष्ट हो जायेगी।

अत: राजधर्म में स्पष्ट आदेश है कि धर्म का विनाश चाहने वाले और अधर्म को प्रोत्साहन देने वाले पापियों और दुरात्माओं का वध करना ही उचित है।[23] धर्म की रक्षा करने के लिए दण्ड देने वाले राजा को, राजा के आन्तरिक तथा बाहरी शत्रु भी कोई हानि नहीं पहुँचा सकते क्योंकि धर्मरक्षक राजा के राज्य में प्रजा

सुख शान्ति से निर्भय होकर रहती है, तथा सदा राजा के साथ सहयोग करती है। प्रजा, राजा का नरदुर्ग होता है जो संकट के समय राजा की सभी प्रकार से सहायता करता है। धर्म स्वयं ऐसे आदर्श राजा की रक्षा करता है।[24] अत: व्यक्ति तथा समाज के जीवन को व्यवस्थित रूप से संचालन करने वाले धर्म का निष्ठपूर्वक पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। धर्म से ही अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसीलिए चारों पुरुषार्थों का समुचित समय विभाजनपूर्व सेवन करना चाहिए। धर्म के पालन से ही बाह्य व्यवहार और मानसिक वृत्तियों का शोधन होता है। ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण का मार्ग धर्म ही प्रशस्त करता है।[25]

सन्दर्भ

1. धृति: क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। — *मनुस्मृति, 6.92*
2. अभयं सत्त्वसंशुद्धि: ज्ञानयोगव्यवस्थिति:।
   दानं दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
   अहिंसासत्यमक्रोधस्त्याग: शान्तिरपैशुनम्।
   दया भूतेष्वलोलुपत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
   तेज: क्षमा धृति: शौचमद्रोहो नातिमानिता।
   भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। — *श्रीमद्भगवद्गीता, 16.1-3*
3. न हर्तव्यं परधनं एष: धर्म: सनातन:।। — *महाभारत, शान्तिपर्व, 259.12*
4. यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म: इति निश्चय:।। — *महाभारत, कर्णपर्व, 69.57*
5. सर्वं प्रियमभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिण:।
   पश्य लक्षणोद्देशं धर्माधर्मे युधिष्ठिर।। — *महाभारत, शान्तिपर्व, 259.25*
6. श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चानुवर्त्यताम्।
   आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।। — *पद्मपुराण, सृष्टि 19.357-58*
7. धर्मं यो बाधते धर्मो, न स धर्म: कुधर्म तत्।। — *महाभारत, वनपर्व, 131.11*
8. स वै धर्मो यत्र न पापमस्ति।। — *महाभारत, शान्तिपर्व, 141.76*
9. भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि।
   कारणात् देशकालस्य देशकाल: स तादृश:।।
   मैत्रा: क्रूराणि कुर्वन्तो जयन्ति स्वर्गमुत्तमम्।
   धर्म्या: पापानि कुर्वाणा गच्छन्ति परमां गतिम्।। — *महाभारत, शान्तिपर्व, 78.32-33*
10. *महाभारत, शान्तिपर्व, 109.14-16*
11. सूक्ष्मत्त्वात् न स विज्ञातुं शक्यते बहुनिह्नव:।
    उपलभ्यान्तरा चान्यानाचारानवबुध्यते।। — *महाभारत, शान्तिपर्व 262.36*

12. कारणाद् धर्ममन्विच्छेन्न लोकचरितम् चरेत्।। — *महाभारत, शान्तिपर्व 262.53*
13. यस्य धर्मध्वजो नित्यं, सुराध्वज: इवोच्छ्रित:।
प्रच्छन्नानि च पापानि, वैडालं नाम तद्व्रतम्।। — *महाभारत, उद्योगपर्व, 160.14*
14. लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियम: कृत:। — *महाभारत, शान्तिपर्व, 259.4*
15. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन:।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्, पृथिव्यां सर्वमानवा:।। — *मनुस्मृति, 1.139*
16. वर्धति अधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति।
तत: सपत्नान् जयति, समूलस्तु विनश्यति।। — *महाभारत, वनपर्व, 94.4*
17. नाधर्मश्चरितो राजन् सद्य: फलति गौरिव।
शनैरावर्त्यमानो हि कर्तु: मूलानि कृन्तति।।
पुत्रेषु नप्तृषु वा न चेदात्मनि
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरु भुक्तमिवोदरे।। — *महाभारत, आदिपर्व, 80.2-3*
18. धर्म: एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित:।। — *महाभारत, वनपर्व, 313.128*
19. ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष, न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स: किमर्थं न सेव्यते।। — *महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, 5.62*
20. यस्यैव बलमोजश्च स धर्मस्य प्रभुर्नर:। — *महाभारत, शान्तिपर्व, 152.17-18*
21. धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि, धर्मो राजनि तिष्ठति।। — *महाभारत, शान्तिपर्व, 90.5*
22. निकृत्योपचरन् वध्य: एष: धर्म: सनातन:।। — *महाभारत, वनपर्व, 12.7*
23. धर्मस्योच्छित्तिमिच्छन्तो येऽधर्मस्य प्रवर्तका:।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो देवैर्दैत्या इवोल्वणा:।। — *महाभारत, शान्तिपर्व, 33.20*
24. राजानं धर्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षित:।। — *महाभारत, वनपर्व, 30.8*
25. यतोऽभ्युदयनि:श्रेयस: सिद्धि: स: धर्म:।। — *वैशेषिक दर्शन, 1.1.2*

पूर्वप्रोफेसर (संस्कृत)
बी.एफ. 95, जनकपुरी,
नई दिल्ली-110058
चलवाणी-9899101944

The connotation of dialogue between Yājñavalkya and Máitreyí as mentioned in Brhadāraṇyakopaniṣad

Dr. Aditya Angiras

Although this dialogue appears in several other Hindu scriptures but the earliest form of this dialogue is found in chapter 2.4 of the Brhadāraṇyakopaniṣad which is one of the principal and oldest Upanisads and is dating from approximately 700 BC. Chapter 4.5 of Brhadāraṇyakopaniṣad is an extended version of the material provided to us in the prior said chapter. The Mátreyí-Yajñavalkya dialogue is also found in two recensions of the Madhyamdina and Kanva Vedic schools. Although some literary differences are found in the texts of both recensions but it must be said that both of them share the same philosophical theme[1].If we try to concentrate our attention on the above mentioned entire dialogue being carried out between Yājñavalkya and Máitreyí, we can draw the crux of the given situation as below:

1. After clearing the first three stages of his life i.e. brahmacharya, grihastha and vānaprastha, Yājñavalkya wished to become a renunciant in his final age[2] and asked Mátreyí to give her consent for the said purpose with a note that he wanted to divide his assets between her and Katyayani[3].
2. Máitreyí, upon hearing his decision of his husband to divide his earning amongst histwo wives raises two subtle questions

   2.1 If now, this whole earth filled with wealth were mine, would I be immortal?

   2.2 What should I do with to attain immortality?"[4]

Yājñavalkya addressesd in a negative manner to her first question but told her that she will have enough riches of the world. Of immortality, however, there is no hope through wealth. Later Yājñavalkya addressed Mátreyí: "Ah! Dear as you are to me, come sit down near me and I will explain to you".

In the later dialogue he explains his views on immortality of self and the ultimate reality and uniformity in between both by giving example of Conch, trumpet and likewise other objects.[5]

The role of mind behind her probes

It becomes necessary here to take note about the observation of ancient Indian thought about working of human mind before taking up the analysis of her second quest as mentioned above relating to immortality.

It mays be said that the Upanisadic people understood the unlimited propensities of the Human mind in every direction[6] and opines that one tends to speak what his mind thinks of and he acts accordingly[7].They carve out the reason behind the performing of any kind of action is the desire and thus they divide the desire under three headings firstly being desire for sons, secondly being the desire for wealth and thirdly being the desire for fame and kudos. It is imperative the man devotes entirely his self to fulfill his one of these desires remains active till his death.Accordingly, the people of these times realized the fact that "The actions performed by a person are the result of his desires,"[8] and "it is the mind that motivates everyone to act."[9]The Upanisadic clan, after realizing this very fact of life, prays the Supreme Soul for the eternal peace of mind, which is enriched with the noble thoughts[10]. Needless to say that the entire literature authored by these people shows us it's openness in its behavior and attitude and they expect everyone to regulate their longing and actions in a more sensible manner. The ideals taught by these people of Upanisadic times, are not those of pain hugging because they understands that the happiness on earth and enjoyment in

heaven are impermanent in nature[11]. The passages denote the fact that whatever is won through action in this world or the other world is eventually lost after sometime since all the denizens of earth and heaven are mortal. None, identified with phenomena, governed by the laws of time, space, and causality, can escape death[12]. Realizing thus, this Class makes everyone aware and asks to be sensitive to the qualities in relative terms, which ought to be borne by every person, by suggesting various measures. The people of Upanisadic times, while talking of freedom for action & thought[13], understand the fact that "The man is destined for action. He gets after his death what actions he performs in this world"[14] and thus they ask everyone to be aware of his actions "One acts what one thinks. By doing good deeds one becomes good"[15] They understand the law of action i.e. sinful actions yields sin[16]. Thus, they promulgate "those who possess the mind endowed with the power of inward concentration, see and realize what is good"[17] and thus ask everyone to act with a mind endowed with *sraddhā*[18](devotion) since they appreciate the fact that ´true knowledge can only be attained with devotion, humbleness and humility. They understood life devoid of devotion has no meaning and the human society cannot make any progress in any walk of life.According to them, "this is the basic law of Human Life.[19]Accordingly the Mind is the Ultimate king[20] and is the ultimate reason of bondage and liberation in human beings[21] from this world.

They have categorized the human mind in to two parts firstly being pure and second being impure[22]. According to Upanisads the mind which is devoid of any longing or desire or anything alike is pure mind and the mind with longing for desired object is an impure mind and it is this type of mind which spurs the man in to action. Artbhagh while discussing the process of death with Yájnavalkya enumerates that there are two type of actions and by doing good deeds one becomes virtuous and accordingly one becomes devil by performing evil deeds[23].The details about Good deeds can be found in the *Yoga Sutras* of Patanjali in the form of "Yama"[24].

If we try to concentrate on her second question about attaining the self or immortality, we can say that she is not only following the greatest Indian tradition but she has attained the capability and willingness to comprehend the ultimate reality due to her personal wisdom, past experiences and the level of education and training she has attained. A

The query

The dialogue in the Upanisad is significant beyond being a gauge of gender relations only for those who have been talking about woman liberation. AdiShankara, wrote in his commentary on Brhadāraṇyakopaniṣad that the purpose of the Mátreyí-Yajñavalkya dialogue in chapter 2.4 is to highlight the importance of the knowledge of Atman and Brahman, and to understand their unique oneness without any discrimination made on the basis of caste colour or creed[25] According to him, the dialogue suggests that both of the sexes have equal right in the matter of renunciation which is much talked about in the Vedic texts and is treated as a means to knowledge of the Brahman and Atman.[26]He adds, that the pursuit of self-knowledge is considered quiet important pursuit in the Sruti because the dialogue is repeated in chapter 4.5 and which is considered as a "logical finale" to the discussion of Brahman in the Upanisad.Her questions are evident in themselves that she is a seeker of ultimate knowledge and a lover of the Atman[27]. It is so because the questions have a deeper connotation about life in the human form and represents the personal power of comprehension of the life facts which are based on personal experiences and the capacity of learning. We often feel that what is being earned has a definite end and according to theory of causation,nothing is permanent for the denizens living in the sphere of time and space. This very fact is elaborately discussed in the KathoUpanisad where Nachiketa shares his opinion about the worldly things of happiness or riches[28]. We can appreciate the fact that the situation arose before Máitreyí was due to the fact that probably she was aware of the fact that “man is not to be satisfied with wealth”[29] ever and the wealth is unable

to solve her most sensible query as is a barring substance in realizing the ultimate truth. Although, the idea of acquiring wealth is not totally rejected and eventually when the idea of property arose, immediately it appeared to have enthused up a notion in the mind of the wise Mátreyí and the query about immortality is stuck in the mind of Máitreyí. It was all due to her past life experiences and It is so, because the query raised by Mátreyí denotes the facts that "The preferable and pleasurable approach man. The man of intelligence, having considered them, separates the two. The intelligent one selects the electable in preference to the delectable; the non-intelligent one selects the delectable for the sake of growth and protection"[30]. Attainment of wealth is one concept and seeking immortality is another and both of the concepts have no common ground to be combined together.

Immortality cannot be gained by obtaining the worldly riches at all. We can admit the fact that the desirability to obtain the riches is a condition of the mind where mind is either associated with any of the worldly riches or has a desirability to attain worldly riches in order to become the richer. And thus it does exert pressure on individual to obtain the worldly riches in one way or the other and thus the man has to reject the higher understanding of life for the sake of everlasting blissful existence and both of these concepts cannot go by hand in hand or side by side. We can trace the willingness of Máitreyí to opt the better way of life through her question although the importance of worldly riches is not ignored or rejected at any level either by Yājñavalkya or by Máitreyí in this given instance.

Máitreyí, when considered in relation to Kátyáyani, is just like any other common household woman who is having all of these senses equally and the positive sign in this context is that Máitreyí is not enslaved to these senses which could destroy the peace of mind and freedom of true living although her mind is dwindling between electable and delectable. We may agree upon the point that when a man of ignorance, neither having discrimination nor detachment, vulgarity runs after the sense objects for his

temporary nerve tickling, he becomes a sad victim of his delusion and meets a calamitous end for he has allowed himself to be bound by the five ropes. It is so because a person devoid of terrible bonds with his senses of pleasure and worldly riches, although quiet difficult, is only the fittest one to seek liberation and none else because those who have only an apparent dispassion and is trying to cross the ocean of change. Máitreyí, is at a juncture where she has a willingness to know the ultimate truth of life. This ultimate truth is the Amritattva of which She is talking about and she has shown her quiescence of her mind while she is ready to learn the truth.

Query answered

As the *Encyclopedia Britannica* puts forth that "Many of the teachings attributed to Yājñavalkya are representative of the break with earlier Vedic ritualism and are distinctive to the new worldview of the Upanisads. These teaching include the first exposition in Sanskrit literature about the doctrine of karma and rebirth, which deals with the individual's destiny as the rebirth is determined in accordance with one's action of past life or popularly known as luck:

"Now as a man is like this or like that, according as he acts and according as he behaves, so will he be;a man of good acts will become good, a man of bad acts, bad; he becomes pure by pure deeds, bad by bad deeds."

"And here they say that a person consists of desires, and as is his desire, so is his will; and as is his will, so is his deed; and whatever deed he does, that he will reap."[31]

Yājñavalkya is often quoted as saying that the true self is distinct from the individual ego and therefore it is not subject to karma and rebirth; it is eternal, unchanging, and identified with the monistic principle[32] underlying the universe, the Brahman. He opines that release from the cycles of rebirth and the attainment of blissful self comes from knowledge of self and it is

procured by "the one who does not desire, who is without desire, whose desire is satisfied, whose desire is the self."[33].

It would be quiet sensible to point out here that the philosophy of Yājñavalkya is often quoted as monastic in nature. We can appreciate the fact monastic philosophy is a relative term which includes number game whereas the fact remains that he is trying to make aware Mátreyí about the consciousness that is universal in nature. The only difference between the self and Brahman of universal consciousness is the body alone. The universal consciousness is all pervading and he enumerates the core concept by taking the example of ether element or the sound. The conch, the trumpet and the drum, according to Yājñavalkya, have common grounds of working and thus theywork on the same principles although they have different shapes and structures. Had there been no ether in them, neither drum beating nor trumpet nor conch could yield the sound. Thus there is commonality between the human consciousness and Ultimate consciousness. The only barring factor in realization is the human conditions. Once one crosses over those human conditions he can enter in the realm of Ultimate consciousness. The same principles are also enumerated in the *Kathopanisad*. Thus naming the philosophy of Yājñavalkya as monastic philosophy is irrelevant asthe Supreme Consciousness is non-dualistic in nature.

Before the probable actual analysis and meaning of dialogue between Yājñavalkya and Máitreyí be carried out, Revered Acharya Shankar has much more to say in this context and he aptly describes his opinion in this regard in *Vivek Chūdamaṇi* regarding human life. This contexts, not only makes us aware about the thought process of Śankarãchãrya but it also gives us the definite insights in this context ofYājñavalkya and Máitreyí even when Acharya Shankar describes the condition of human life by saying that "The deer, The elephant, The moth, the fish and the honey bee –- these five are annihilated because of their slavery to one or the other of the senses such as sound etc., though their own attachment. What, then is the condition of a

man who is attached to all these five"[34].The insight of Śankarãchãryagoes one step further by describing the basic fact of life that "Sense objects are even more venomous in their tragic effects than Cobra poison. Poison is fatal to one swallows it, but the sense objects kill him who even look at them with his eyes"[35] although he remains silent on the issue of acquiring wealth.

It will not be out of point to mention the texts of *Ishopanisad* in this context when it says

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥११॥[36]

Meaning thereby "He who knows these two; Vidyã and Avidyã together; attains immortality through Vidya , by crossing over death through Avidyã" If the question of Maitrayei is to taken in to consideration, we can say that she has the query to know the self and thus due to this reason she has asked his mentor and husband. Probably she had the idea that those, who worship the un-manifested enter in to blinding darkness; but those who are devoted to the manifested enter in to the greater darkness. Accordingly, there are two prominent phrases in the above context the first being pleasure and death (pleasurable) and second being the immortality (Preferrable). Eventually the point of contention is the delusion and thus he is making her aware about the delusionary power of mind

On the contrary, if we try to analyze the meaning of the dialogue orated by Yājñavalkya, he is a man of high intellect with a hands on experience of life. He is a man of lots of common sense and has many wits and is an apt reader of mind. He is not only well versed in psychology of relations but also has empathetic in nature and has a clear view and comprehension about afterlife. It is so because he had been organizing large sacrifices in the past as well.

If we try to concentrate on the entire dialogue we can understand the fact that although Yājñavalkya is talking about concept of Brahman or the ultimate self but on the contrary to this, we can appreciate the fact that

Yājñavalkya is trying to make aware Mátreyí the art of differentiation and discrimination between ephemeral and non-ephemeral nature on beings. It is so because he himself is not only aware about the self and has attained it and has the personal experience of it. Thus the relationship can be called a healthy relationship of marriage or Udvah where husband and wife guide each other to attain the higher realms of understanding and this form of marriage in particular, is much appreciated which exhibits the peaceful and fruitful cohabitation of philosophical thoughts at higher level.

Keeping in mind the situation described above, I am reminded of an ancient text from Sanskrit literature in above mentioned context which explains the concept of death and immortality in true sense and are not in accordance with the conventional meaning and it is read as under:

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्। मृत्युरापद्यते मोहात्सत्येनापद्यतेऽमृतम्॥

According to this text, the death and immortality are imbued in this body and the death is attained by delusion and the immortality is attained by truth only or precisely to attain the self and the concept of death in this context has nothing to do with falling of the limbs or body. Precisely, it is a sense of discrimination with rejection of deluded state of mind which is to be considered at this point. *kathopanisad* rightly points out in this context, which is read as " The preferable is different indeed; and so; indeed, is the pleasurable different. These two serving divergent purposes, bind man, good befalls him who accepts the preferable among these two. He who selects the pleasurable, falls from the true end.

Eventually with a world view by attaining the wealth, the immortality and everlasting happiness cannot be attained although one may be acquiring the wealth, O Lord, tell me that. Let me be cured of this illness of doubting in my mind, so that I may know what it is that I have to engage myself in if I am to be eternally happy; so that there can be no fear from any cause. Is it a

possibe? If it is a possibility, what is the method that I have to adopt in the acquisition of this Supreme final satisfaction?"

Yājñavalkya was highly pleased with her upon hearing her immanent query and has an exclamation. "I never expected that you will put such a question to me when I am leaving you immense property, bestowing upon you a lot of wealth. I will definitely answer your query at once"[37]. "Blessed are you, Foryou wish to attain the attain the absolute Brahmanby freeing yourself from the bondage of ignorance. Indeed, you have fulfilled your

life and have glorified your clan"[38] and replies negative to apprehension of Máitreyí about her first query with the comment that "You may not be happy although You will have very comfortable life. We can see the reasons for his feelings of happiness and the obvious reasons behind his happiness may be stated that she has not only asked him the basic cause of her true existence but has shown her willingness to comprehend the difference between preferable and plausible. She has also shown her willingness to proceed on the path of preferable in order to find her true existence. It is so because she has a notion about knowledge and ignorance and has her willingness to learn the art is discrimination. It is so because according to some Hindu commentators on scriptures a jiva (life-force) is granted a human life only after going through 8,400,000 previous incarnations of lower forms of life -- 2,000,000 as a plant, 900,000 as aquatic, 100,000 as insects, 100,000 as a bird, 300,000 as a cow, 400,000 as a monkey[39]. And the true purpose of life in human form is to learn this art of discrimination and differentiation and to follow the path which leads him to the path of emancipation. *Kathopanisad* clarifies in this context "That which is known as knowledge and that is known as ignorance, are widely contradicted"[40]. Keeping in view of this she can be called as an aspirant for the knowledge because the enjoyable things, multifarious though they are, did not tempted her and she gave preferences to the self over the money.

Immortality is not possible through possession of wealth. It is a different issue altogether, which has no association with immortality." Amṛitatvasyatunāśās-tivitteneti: "and thus there is no hope of immortality through wealth". Yājñavalkya understands the fact that a man has his off-springs and others to save him from his financial debts, but to redeem himself from his delusion, there is none but himself"[41] because exhaustion and burden caused by carrying a load on the head can be relieved by others coming to one's help. But none save one's own self can end the pangs caused by the hunger etc., Thus keeping in view the situation described above he passes the message that one will have to die who so ever is born and he makes aware her aware of the transient nature of human body. His, this understanding is in accordance with a verse of *Srimad Bhagawad Geeta*[42]. According to this verse "The bodies of indweller, who is eternal, indestructible and immeasurable are said to have an end". Lord Krishna explains further "As a man casting off worn out garments put on new ones, so the embodied, casting off worn out bodies enters in to others that are new"[43].Lord Krishna further says that death is certain of that which is born; birth is certain of that which is dead[44]. It is for the reason because the means for the attainment of the other world does not become revealed to the non-discriminating man who blunders, befooled by lure of wealth. One that thinks that there is only this world, and none hereafter, come under my sway again and again"[45]. This cycle of birth and death does not cease until once attains the self.

अनुपश्य यथापूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे। सस्यमिवमर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥६॥[46]

So Yājñavalkya, at first, makes her understands the existence of indestructible self by way of negation and describes worldly relations as self-centred, egotistic and egocentric. He critical deliberates the fact "O Mátreyí! Husband is not beloved for being a husband, for his own purpose, the husband is dear because of the self. A woman is not dear to a woman's purpose, a woman is dear to her husband for his own purpose.Yājñavalkya

further says that sons are not loved for the purpose of being ones sons, sons are loved only for self-purpose… .. Gods are also loved for their purpose only. Shankaracharya'sremark–AtmaivPriya, Nanyat means that the self is dearer thananything else and carries more weight rather than anything present in this world. After giving many other alike observations of same nature, he tells her that the self onlyis worthy of attention and to be attained. Self-realization, listening, contemplation and science of attaining the self, all of this knowledge deserves special attention in this regard. Yājñavalkya declares that it is this form of knowledge of the soul, which leads one to attain the knowledge of the whole world.[47] Thus "But those who practice austerity and faith in the forest, the tranquil knowers who live the life of a mendicant, depart freed from sin, through the door of the sun to where dwells the immortal, imperishable person[48]. Brhadāraṇyakopaniṣad further explains the process when it says "A man acts according to the desires to which he clings. After death he goes to the next world bearing in his mind the subtle impressions of his deeds; and after reaping there the harvest of his deeds, he returns again to this world of action. Thus he who has desires continues subject to rebirth.But he in whom desire is stilled suffers no rebirth. After death, having attained to the highest, desiring only the Self, he goes to no other world. Realizing Brahman, he becomes Brahman".[49]

We also find the process of immortality in Srimad Bhagavad Gita too when Lord Krishna proclaims "He who closes the doors of the senses, confines the mind within the heart, draws the prana into the head, and engages in the practice of yoga, uttering Om, the single syllable denoting Brahman, and meditates on Me -- he who so departs, leaving the body, attains the Supreme Goal[50]. Thus "Having come to Me, these high-souled men are no more subject to rebirth, which is transitory and the abode of pain; for they have reached the highest perfection"[51]. Thus, those, who know this as such and those too who meditate with faith in the forest on the truth, pass into the light, from the light into the day, from the day into the half-month of

the waxing moon, from the half-month of the waxing moon into the six months during which the sun travels northward, from these months into the world of the gods, from the world of the gods to the sun, from the sun into the lightning (fire). Then a person consisting (born) of mind goes to those regions of lightning and leads them to the worlds of Brahman. In these worlds of Brahma they live for long periods. Of these, there is no return[52]. The entire dialogue of Yajñavalkya can be summarized as :

घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परात्मनि विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं हव सदा मुने[53]

The lower form of self and the power Supreme are one and the same and it is due to ignorance of the lower form of self is unable to comprehend its true identity. Because this self is the power Supreme and it is to be realized in the positive sense.

अयमात्मा ब्रह्मसर्वानुभू: [54]

Thus this self is only one which is to be found by every living being and this is the righteous form of religion. अविनाशी वा अरे अयमात्मा अन्विच्छति धर्मा।[55] because असङ्गो ह्ययमात्मा।[56] This self is not bound by any entity.

After enumerating many things that are usually conceived as dear and desirable by mortals in this world, Yājñavalkya says that these worldly riches cannot form the ground of everlasting happiness for a person neither it actually can form the source of real contentment to a person.He marks the fact that nothing external can give her everlasting happiness and contentment in real sense, because “Ephemeral are these and they waste away the vigor of all the organs that the man has. All life, without exception, is short indeed”[57].Eventually there is something else which is worth to attain and after attaining which nothing remains to be attained in this world. Here, the word ātman or the self is to be comprehended in the sense of the Totality of Being and this self is to be attained which is the actual sources of everlasting happiness and worldly things cannot replace the Supreme Absolute, which is the Self of all things. Probably, he is pointing out that the

aim of human life is not wealth alone rather it has a deeper meaning since "The preferable is indeed and so, indeed is the pleasant different. These two serving divergent purpose bind man. Good befalls him who accepts the preferable and these two. He who selects the pleasurable, falls from his true end"[58]. Thus she should comprehend the self alone who is charioteer[59]

Radhakrishnan too, in his commentary on *SubálaUpanisad* clarifies the process of realizing the self when he adds that " In the center of the heart is a red mass of flesh. In it is the white lotus called the dahara which has bloomed like a red lotus with its petals spread in different directions. In the middle of it is an ocean. In the middle of the ocean is a sheath. In it are four nadis called Rama, Arama, Iccha and Apunarbhava. Of these, Rama leads (the practitioner of righteousness) through righteousness to the world of righteousness. Arama leads (the practitioner of unrighteousness) through unrighteousness to the world of the unrighteous. Through Iccha one attains whatever object of desire one recalls. Through Apunarbhava one breaks through the sheath. Having broken through the sheath one breaks through the shell of the crust (skull). Having broken through the skull, he breaks through the earth element. Having broken through the earth element he breaks through water. Having broken through water, he breaks through light. Having broken through light, he breaks through air. Having broken through air, he breaks through ether. Having broken through ether he breaks through mind. Having broken through mind, he breaks through the subtle elements. Having broken through the subtle elements, he breaks through the mahattattva. Having broken through the mahattattva he breaks through the Un-manifested. Having broken through the Un-manifested, he breaks through the imperishable. Having broken through the imperishable, he breaks through Death. Then Death becomes one with the Supreme. In the Supreme there is neither existence nor non-existence nor existence and non-existence. This is the doctrine leading to liberation. This is the doctrine of the Veda. This is the doctrine of the Veda[60].

We can comprehend the meaning that what sage Yājñavalkya is communicating to Mátreyí through paradigms is the actual position of Brahman. According to paradigms, we can compare the position of Brahman to the sound that is lying equally in a conch or drum or anything alike. The sound is manifested only after the efforts made to blow the conch or beating of drum. Revered Acharya Shankar made a valid comment in this regard "The actuality of things is to be known by a firsthand personal experience through the eye of clear understanding, and not through the report of a learned man. The beauty of the moon is enjoyed through one's own eyes. Can one appreciate it through the descriptions of other"[61].We can appreciate the fact that Mátreyí, who raised the substantial question of immortality, is in a state of flux where on one hand she is ready to reject the worldly riches out-rightly since they cannot assist her in finding the solution to her query, on the contrary, she is on a way to realize her true inner self which has risen from the bosom of her ignorance and this is a individualistic experience which none other than self can comprehend the sublimity of self. It may be said that the bondage is subject to ignorance of one's own personal nature. The ignorance of his own personal all fullness in the spiritual personality is the basic barring factor one has to cross over in order to attain the fullness of life. Śankarãchãrya rightly points out that "For him, who has been stung by the cobra of Ignorance, the only remedy is the knowledge of Brahman"[62]. In fact, happiness due to ignorance, on account of an imagined connection of the mind with the object that is desired for and possessed, does not pave way for the everlasting happiness. Thus Yājñavalkya tells Mátreyí that when there is total isolation of consciousness from all its associations in the form of these permutations and combinations of elements. Thus she should try to self after attaining which everything becomes known[63]

Only this state of condition is capable of transcending the human conditions. Yājñavalkya presents the bigger picture after clarifying everything thatEverything is known by the knower which is the ultimate

self, but who is to know the knower? If the knower is to be known, there must be a second knower to that knower, and the second knower can be known by a third knower, the third by a fourth, the fourth by a fifth, and so on. You go on scratching your head, you cannot know the knower. How can the knower be known? We have already designated the knower as the 'Knower' and you cannot now call it the 'known'. Therefore, there is no such thing as knowing of Knowing, or knowing of Knower. Knowing of objects only is there before liberation. With liberation, that object has become part of knowing itself; It has become one with the Knower. The Knower alone is; there is no such thing then as 'knowing'. Therefore, as I told you, Mátreyí, it is not possible to have cognition and perception and mentation and understanding, in the usual sense, in that Absolute which is Supernal Felicity of Plenum.

The final outcome

Thus, he tells her:"One should indeed see, hear, understand and meditate over the Self, O Mátreyí;indeed, he who has seen, heard, reflected and understood the Self – by him alone the whole world comes to be known[64.] After a thorough understanding about the Ultimate consciousness Mátreyí lead a renunciate's life[65] in order to realize the effulgent self. It is so because emancipation and attainments are always personal in nature.

Further readings

- Brereton, Joel P. (2006). "*The Composition of the Mátreyí Dialogue in the Brhadāraṇyakopaniṣad* ". Journal of the American OrientalSociety. 126 (3). JSTOR 20064512.
- Hino, Shoun (1991). *Suresvara'sVartika On Yajñavalkya'S-Mátreyí Dialogue* (2nd ed.). MotilalBanarsidass. ISBN 978-81-208-0729-7.
- Hume, Robert (1967). *Brhadāraṇyakopaniṣad*. (Translator), Oxford University Press.
- Marvelly, Paula (2011). *Women of Wisdom*. Oxford: Osprey Publishing. ISBN 978-1-78028-367-8.

- Pechilis, Karen (2004). *The Graceful Guru: Hindu Female Gurus in India and the United States.* Oxford University Press. ISBN 978-0-19-514537-3.
- Teresi, Dick (2002). *Lost Discoveries: The Ancient Roots of Modern Science - from the Babylonians to the Maya*. Simon & Schuster, New York. ISBN 0-684-83718-8.
- I Fisher (1984), *Yajñavalkya in the Sruti traditions of the Veda*, Acta Orientalia, Volume 45, pages 55–87
- Patrick Olivelle (1993). *The Asrama System: The History and Hermeneutics of a Religious Institution*. Oxford University Press. pp. 92 with footnote 63, 144, 163. ISBN 978-0-19-534478-3.
- Patrick Olivelle (1998). *Upanisads*. Oxford University Press. pp. xxxvi–xxxix. ISBN 978-0-19-283576-5.
- Ben-Ami Scharfstein (1998). *A Comparative History of World Philosophy: From the Upanisads to Kant*. State University of New York Press. pp. 56–57. ISBN 978-0-7914-3683-7.
- Hajime Nakamura (1968), *Yajñavalkya and other Upanisadic thinkers in a Jain tradition*, The Adyar Library Bulletin, Volume 31–32, pages 214–228
- Ian Whicher (1999), *The Integrity of the Yoga Darsana: A Reconsideration of Classical Yoga*, State University of New York Press, ISBN 978-07914 3 8152, pages 27, 315–316 with notes
- Hock, Hans Henrich (2002). *"The Yājñavalkya Cycle in the Brhadāraṇyakopaniṣad*". Journal of the American Oriental Society. American Oriental Society. 122 (2): 278–286. doi:10.2307/3087621.
- *Brhadāraṇyakopaniṣad* 4.4.5-6 Berkley Center for Religion Peace & World Affairs, Georgetown University (2012)
- Paul Deussen, *Sixty Upanisads of the Veda*, Volume 1, MotilalBanarsidass, ISBN 978-8120814684, pages 475-507
- Max Muller, *Brhadāraṇyakopaniṣad* 4.3-4, Oxford University Press, pages 161-181 with footnotes

REFERENCES

1 Brereton, Joel P. "The Composition of the Maitreyī Dialogue in the Brhadāraṇyakopaniṣad". Journal of the American Oriental Society. (2006). 126 (3): 323–345. JSTOR 20064512.

2 Hino, Shoun. Suresvara'sVartika On Yajnavalkya'S-Maitreyi Dialogue (2nd ed.). MotilalBanarsidass. (1991). ISBN 978-81-208-0729-7.

3 Hume, Robert, *Brhadāraṇyakopaniṣad*. (Translator), Oxford University Press(1967).

4 Hume, Robert). *BrihadaranyakaUpanisad*. (Translator), Oxford University Press(1967cf/BrihadaranyakaUpanisad 2.4.2–4

5 Hume, Robert). *Brhadāraṇyakopaniṣad*. (Translator), Oxford University Press (1967p. 98–102, 146–48.

6 *Brhadāraṇyakopaniṣad*, 3.1.9

7 *JaiminiUpanisad*, 1.13.3-5 & *Brhadāraṇyakopaniṣad*, 1.5.3

8 *Brhadāraṇyakopaniṣad*, 4.5

9 *Brhadāraṇyakopaniṣad*, I1.1,

10 *Shiva SankalpaSukta* of *Yajur Veda*

11 *Kathopanishad*, 1.II.7

12 Ibid. I.1.6

13 *Chandogyopanishad*, 3.14

14 Ibid.

15 Brhadāraṇyakopaniṣad, IV.4.5

16 Ibid. 1.5.16 & III.2.13

17 *Mahanarayanopanishad*.79.12

18 *ChandogyoUpanisad*, 7.19.1

19 *Kathopanishad*, I.2.2

20 *Brhadāraṇyakopaniṣad* 4.1.6

21 *MaitrayeeUpanisad* 6.34

22 *AmritBinduUpanisad* 1 & *BrahmVidyoUpanisad*.1

23 *Brhadāraṇyakopaniṣad* 3.2.13

24 Patanjali: *YogaSutra* :2.30

25 Paul Deussen : The *System of the Vedanta: According to Badarayana's Brahma-Sutras and Shankara's Commentary thereon.* KB Classics Reprint.(2015). p. 173–174. ISBN 978-1-5191-1778-6.

26 Paul Deussen : *The System of the Vedanta: According to Badarayana's Brahma-Sutras and Shankara's Commentary thereon*. KB Classics Reprint.(2015). p. 173–174. ISBN 978-1-5191-1778-6.

27 Hino, Shoun). *Suresvara'sVartika On Yajnavalkya'S-Maitreyi Dialogue* (2nd ed.). MotilalBanarsidass . (199)1 ISBN 978-81-208-0729-7. pp. 94–95.

28 *Kath*.1.i.26

29 *Kath1*.i.27

30 *Kath*.Up.1.ii.3

31 *Brhadāraṇyakopaniṣad* 4.4.5-6,

32 https://www.britannica.com/topic/pluralism-philosophy

33 *Encyclopaedia Britannica*

34 *VivekChudamani* 76

35 *VivekChudamani* 77

36 *Ish. 11 & Mait.*7.9

37 सहोवाच याज्ञवल्क्यः प्रियाबतारेनः सतीप्रियं भाषस एह्यूआस्स्वव्याख्यास्यामिते। व्याचक्षाणस्यतुमेनिदिध्यासस्वेति॥४॥

38 *VivekChudamani* 50

39 Louis Renou, *The Nature of Hinduism*. New York: Walker & Co., 1962, pg. 67.

40 *Kath*. 1.ii.4

41 *VivekChudamani* 51

42 *SriMadBhagawadGeeta* 2.18

43 *SriMadBhagawadGeeta* 2.22

44 *SriMadBhagawadGeeta* 2.27

45 *Kath* 1.ii.6

46 *Kath*.Up. 6

47 स होवाचन वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिःप्रियो भवति।
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।
न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।
न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति।
न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति।
न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति।
न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति।
न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवत्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति।
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वंप्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वंप्रियं भवत्य्
आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो। निदिध्यासितव्यस्मैत्रेय्य्
आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥५॥

48 *MundakaUpanisad* (Radhakrishnan), I.2.5-1

49 *Brhadāraṇyakopaniṣad* (Prabhavananda), 109

50 Bhagavad Gita8:12-13

51 *Bhagavad Gita* 8: 8:15

52 *Brhadāraṇyakopaniṣad* (Radhakrishnan), VI.2.13-15

53 *Adhyatm7*

54 *Brhadāraṇyakopaniṣad* 2.5.19 c/f Nritaap1.2RaaUp2.1

55 *Brhadāraṇyakopaniṣad*.4.5.14

56 *Nritaap* 9.15

57 *Kath*..1ii.26

58 *Kath*.1.ii.1

59 आत्मानं रथिनं विद्धि, *Kath* 3.3

60 *SubalaUpanisad* (Radhakrishnan), XI.1

61 *VivekChudamani* 54

62 *VivekChudamani* 61

63 आत्मैवेदं सर्वम् *Nri.Up*7.4

64 Marvelly, Paula (2011). *Women of Wisdom*. Oxford: Osprey Publishing. ISBN 978-1-78028-367-8. p. 43

65 https://web.archive.org/web/20150402112317/http://shuklayajurveda.org/*yagnavalkya*-chapter7.html

Deptt. Of VVBIS (P.U)
Sadhu Ashram
Unā road Hoshiarpur (Panjab)
Mob. 9417188202

Tantras are on based Vedas

Dr. Mythili Seetharaman

Different Types of *Tantras*

All the kinds of tantras are revealed by God ***śiva***, questioned for by the Goddess herself. "oh! Lord you have revealed to me all the *mantras* and the 64 *tantras,* All the *mantras* are 7 crore in number. They are best because they give all the goals of life". The commentary Ṛju Vimārśini mentions two texts *Mahāmāyā* and ***śambaram***. According to ***Lakṣmaṇa*** it is a single text. In Artha Ratnāwali both are not stated. So it is very difficult to establish the 64 texts. In order to establish this *Nityaṣodaśi Kārnava* states that—

महामाया शम्बरं च योगिनी जालशम्बरं।
तत्वशम्बरकं चैव भैरवाष्टकमेव च॥

In the first part of the ***śloka*** four *tantras* are mentioned. The second part mentions other two ***Tatvaśambara*** and ***Bhairavaṣṭaka***. Some are having the opinion that there are 8 *tantras* in the name of eight ***bhairavas*** namely ***aṣiṭāṅga, ruru, caṇḍa, krodha, unmatta, kapālī, bhīṣaṇa saṁhāra***. In the view of some other scholars, there are 8 *tantras* belonging to *siddhi Bhairava,* ***vaṭuka kaṅkāla yoginī mahābhairava śakti, māyikabhairava*** and ***kaṅkālāgni Bhairava***. This is disputable because in *Tantra* there is no usage of the word *Bhairava* like that of *Yāmala*. Though these instances are opposed to the total ***siddhibhairava*** number of texts, we have to explain that just like sixteen *Nityās* forming a single text, eight ***Bhairava*** also form a single text. There is also no contradiction if we divide them into eight and consider them within 64 *tantras.* Just as ***Ādityapurāṇa, Nṛsiṁha purāṇa, Viṣṇu purāṇa*** and ***Bhāgavatapurāṇa*** are counted among the 18 ***purāṇa,*** but sometimes considered as ***upapurāṇa***. Similarly

here also it should be explained. In eight ***Bhairava*** there is identity with 8 ***Bahurūpayāmalas***. This is not correct, because in the *bahurüpayämala* as in the word *Bhairava* it does not indicate the deity. So we cannot say *Bhairava* denotes the name of the texts. Even the term *Bhairavatantra* only refers to *Bhairava.* There is difference between ***brahmayāmala*** and ***rudrayāmala.***

In ***kūrmapurāṇa*** the texts are counted as ***kapāla*** and *Bhairava* but it is stated to delude people who are averse to the deity and the ***adhikaraṇa*** is said to be having the ***avaidik adhikāra***. So, these two are not counted among ***uttama tantra***. So from this verse only 6 texts are mentioned. The seven mothers are ***brāhmī, vārāhī ,vaiśṇavī, kaumarī ,māhendrī ,mahālakṣmī,*** and ***cāmuṇḍā***. Eighth ***śivadūtī*** expresses the 8th ***brahmarūpa tantra***. In Artha Ratnāwali 8 ***yāmalās*** are mentioned as below:- ***brahmayāmala, viṣṇuyāmala, rudrayāmala, lakṣmīyāmala, umāyāmala, skandayamala, gaṇeśayāmala*** and ***jayadratha yāmala***. So totally there are 25 of them. The reading ***mahoccuśma***" refers to the same having 8 letters.

Gaurīkānta says the two are split and the ***vāmajuṣṭam*** indicates ***vāmakeśvara cattuśśatī***. This is not certain.

बहुरूपाष्टकं चैव यामलाष्टकमेव च ।
चन्द्रज्ञानं वासुकिं च महासंमोहनं तथा ॥
महोच्छुष्म महादेव वातुलं वातुलोत्तरम् ।
हृद्भेदं तन्त्रभेदं च गुह्यतन्त्रम् च कामिकम् ॥
कलावादं कलासारं तथाऽन्यत्कुब्जिकामतम् ।
तन्त्रोत्तरं च वीणाख्यं त्रोतलं त्रोतलोत्तरम् ।
पञ्चामृतं रूपभेदं भूतोड्डामरमेव च ।
कुलसारं कुलोड्डीशं कुलचूडामणिं तथा ॥
सर्वज्ञानोत्तरं देव महाकालीमतं तथा ॥
महालक्ष्मीमतं चैव सिद्धयोगेश्वरीमतम् ॥
कुरूपिकामतं देवरूपिकामतमेव च ।

सर्ववीरमतं चैव विमलामतमुत्तमम् ॥
पूर्वपश्चिमदक्षं च उत्तरं च निरुत्तमम् ॥
तन्त्रं वैशेषिकं ज्ञानं वीरावलिं तथा परम् ।
अरुणेशं मोहिनीशं विशुद्धेश्वरमेव च ॥
एवमेतानि शास्त्राणि तथाऽन्यानपि कोटिशः ॥[1]

In the first 5 verses 28 texts are enumerated, totalling 53. The remaining 11 are mentioned in the other 41/2 verses. There are 4 texts mentioned by ***pūrva āmnāya*** etc. The text ***Niruttara*** is also called ***Anuttara***. The single text is called ***vaiśeśika tantra***. ***jñānam*** refers ***jñānarṇava***. ***Vīrāvalī*** is also a single text. Starting from ***Mahāmāyā*** upto ***Viśuddheśvara,*** there are 64 texts.

The greatness of *Tantrās*

Tantrās are to be treated like ***vedas***. ***Tantrā*** texts are end of ***upaniṣads*** because they lay down rules. So it is called ***Śāstra***. ***Śāsana*** is the order of the deity in the form of impelling and preventing by laying down rules. ***Śāstra*** is that which advices by impelling and preventing by external or incidental rule. Predominantly ***vedas*** are called ***Śāstra***.[2]

So ***Vyāsā*** employs the term ***Śāstroktatvāt*** ie originating in ***Śāstra***. Grammar, meter and others are part of ***veda***. ***Manusmṛti*** etc follow them. So even though not composed by sages, these are called ***Śāstra***.[12]

Like ***Vedas, Tāntrik*** texts are orders of the deity directly. So there is no dispute that they are ***śāstra*** and they are valid. Since they belong to ***veda***, ***paraśurāma*** also says in ***kalpasūtra***, ***śiva*** created 5 texts like ***vedas***, the essence of philosophy. The view in the commentary on Saundarya Larari that ***Tantrās*** are ***avaidik*** should be rejected as prattling. The censure of ***kaula*** practices seen in some ***tantrās*** are not really censured but it praises that particular text. Or else how can we explain the statement of ***śiva*** as seen in ***kaula prakaraṇa***:[3]

Really speaking worship of ***kaula*** mode is the last stage; the worshippers for them are very few. So pursuing them without reflection has been censured. Even if some are entitled they should pursue it secretly or should not pursue it at all. That is why it is censured. It has been stated in ***kulārṇava tantra*** [4]

Knowing ***kuladharma*** all people will be liberated so it is stated:-

कुलधर्ममिमं ज्ञात्वा मुच्येयुः सर्वमानवाः ॥
इति मत्वा कुलेशानि मया लोके विगर्हितम् ॥
पुराकृततपोदानयज्ञतीर्थजपव्रतैः ॥
शुद्धचित्तस्य शान्तस्य धर्मिणो गुरुसेविनः ॥
अतिगुप्तस्य भक्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते ।

By these statements, the view of ***Gaurīkānta*** and ***Lakṣmaṇa*** is refuted, that ***Kulatantra*** is not valid.

We have the words of ***Śiva***,

"***Kuladharma*** is advocated to delude those whose minds are corrupt due to other paths, and that person is ordinary and is belonging to lower caste and it is not the lower caste person who is lower caste."[5]

There are other texts like,

कुलार्णव तन्त्र , दक्षिणामूर्ति संहिता, सनत्कुमार संहिता, and परानन्द तन्त्र

The texts are full of knowledge and according to the *adhikara bedha* give the four goals of life. In the verses given below taken from the ***upaniṣads***,[6] it is clealy established that the mantra of the deity is secretively stated in the vedas.

The construction of the ***Śrī yantra*** is given as follows:-

अष्टा चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या
तस्यां हिरण्मयः कोषः स्वर्गे लोके ज्योतिषावृतः ॥ *तैत्तिरीयारण्यक*[7]

Further this is also very well established from the fact that many great people have followed this ***śākta tantra.***

TANTRAS ARE BASED ON VEDAS

All ***Tantrās, āgamās, kalpasutrās*** and its related ***smṛtis*** like dharma ***śāstrās,*** base their authority on ***vedās*** only.

Bhāskara Rāya, an undisputed and unparalleled scholar in both the disciplines of ***vedās*** and ***tantrās*** who is not only a brilliant analytical interpreter of ***śrī vidyā śākta*** cult, but an encyclopedic writer and mature thinker who has the wealth of ***Tāntrik*** and *Vedic* traditions at his fingertips, chose to write an excellent scholarly commentary (***Bhāśyā***) on a ***vedic upaniṣad*** text ***Tripuropaniṣad*** (A ***śākta upaniṣad*** in nature), which he locates in the middle of ***āranyaka*** portion of ***ṛg veda.***

This ***upaniṣad***, amongst very few genuine ***śākta Upaniṣads*** presently available, seems to occupy a predominant position in ***Śrī vidya upāsana śāśtrā***, by its subtle contents of the subject matter and attain the status of genuine ***vedic*** text by its structure and style. The fact that the great ***Bhāskara Rāya*** chose to comment on this ***upaniṣad*** enhances its value and importance, to practitioners of ***śrīvidyā upāsti īn*** particular and other ***Tāntrik*** scholars in general.

The author comments on that great ***upaniṣad*** consisting of sixteen ***ṛks*** belonging to the middle portion of ***Āranyaka***, recited by ***ṛk veda*** experts of ***Bahvruca śākhā*** who perform their ***vedic*** rituals in accordance with the ***Sānkhyayana kalpasūtra*** and to whom the mantra portions are in ***śākala*** school, and ***Brāhmana*** portion in ***Kauśītaka***. So he assigns this ***Upaniṣad*** to ***ṛk veda*** recension.

The further stages leading to the worship of supreme goddess, *Tripura* which this ***Upaniṣad*** text reveals in sixteen important verses are explained. The Vedas contain two primary divisions, namely ***Pūrva khānḍa*** (former part) and ***Uttara khānḍa*** (later part). The ***Pūrva khānḍa*** by its primary status or importance is direct and ***Uttara khānḍa*** by its secondary status advocating ***upāsana mārga*** is traditional in nature. Both the parts advocate

actions (***kriyā***) in the form of injunctions (*vidhi*). Some rituals are with reference to gods or deities (***Sadevatākāḥ***) and some rituals are pure actions oriented without any reference to ***devatā*** (***Nirdevatākāḥ***).Examples of the first category are like the rituals of A***gnihotra***, various *Yajnas*, household rituals (***Gṛhyakarma***), rituals of fore fathers (***Pitṛkarma***), *Japa* and worship of ***Tāntrik*** deities and ***purāna*** gods like ***rāma*** and ***kriśna***. These are grouped as ***sadevatākāḥ*** i.e. rituals with a view to propitiating particular deities or gods. There are some other rituals purely action oriented in nature without any reference to deities or gods like ***jāta karma***, ***upanayana samskāra*** rituals, morning bath, wearing religious signs in forehead (***Puṇḍra dhāraṇam***) and other generalized commandments like reverence and respect to woman, considering her as a purified fire, devotion to elders etc. These are called ***nirdevatākāh ie*** the aim is not to propitiate a particular deity. But both the types of rituals are ordained by *Vedas*.

Those who believe and accept that there is an immortal soul exists separately apart from this mortal body, there exists a heaven (***Para loka***). The soul through its mortal body enjoys or suffers in different heavens or hells according to the good or bad acts done in this or previous births and frequently travels to and fro in the form of birth and death. Those who believe firmly that Vedas (sacred scriptures) are the prime authority for the above doctrinal conviction (***Siddhānta***) are called ***āstikās*** or believers. These ***āstikās*** are also divided in two sub groups according to their doctrinal preferences or differences namely ***Seśvara*** and ***Nirīśvara*** (those who accept ***Isvara*** and those who do not accept ***Isvara***). The first division, who believes that there is a supreme being who is omnipotent, omnipresent, omniscient and all knowing, ultimate greatness exists even though invisible for out external eyes and senses, is fully capable of granting the fruits as required depending upon the nature of good or bad acts committed by us, are called ***Seśvara Mīmāmsakās*** (i.e. those who affirm their faith on ***isvara*** as the final

authority to grant the fruits for their actions). These ***Seśvara Mīmāmsakā*** who accept ***Isvara***, only are qualified to perform the rites and rituals prescribed in ***Pūrva khāṇḍa*** of *Vedas* and also the worship of different deities, various ***upāsana*** paths mentioned in ***Uttara khānda*** (later part) of the *Vedas*. Keeping an eye only on these dedicated and virtuous persons of this category, the great sage ***Bādarāyana*** and others, advocated five forms to deities like physical form (***vigraha***) etc (***vigrahādi pancakam***)

The firm faith as described in *Vedas*, are themselves capable of giving required fruits independently. There is no necessity to accept a separate authority like ***Isvara*** for granting fruits for the acts done as per the ***vedic*** texts. The ***karma (kratu*** or ***yajña)*** i.e. the ritual act itself is capable of giving fruits. These persons are called ***nirīśvara mīmāmsakā***. For these persons also, *Vedas* are the prime or final authority. So these persons are also believers (***āstikās***). Great sages like ***Jaimini*** advocated the pure ***karma mārga***, actions without any involvement in worship or ***upāsti*** path, keeping such persons in mind. In fact they have gone to the extent of condemning the first division of believers by stressing the importance of pure karma ***marga*** and ***purvakhānda*** of Vedas. So those who belong to this second division are not at all qualified to perform the worship and other acts of ***upāsana*** as described in the ***uttara khānda*** of *Vedas*.

Even when some, amongst this division, by virtue of good rituals done diligently during their previous births start doing the worship of ***śiva*** and ***śakti***, they are condemned and ridiculed in texts like ***vritti*** of ***mrigendra samhita*** in which such ridiculing remarks are available in abundance.

Those worshippers of ***devatas*** who know the inner secrets of the statements rejecting the ***vigrahādi pancakam*** etc should never reject the Karma***prādhanya vada*** i.e. giving primary importance to *karma* alone. If they try to do so, then those ordinary persons, diligent in ritual actions and yet without any ripening of mind and conviction (***viśvāsa***) to follow the ***upāsana marga*** (contemplative worship of deity) may virtually be pushed into such a situation, whereby neither can they adopt or follow the new path

advocated to them by reason of their incompetence due to freak mental discipline, nor can they revert to their old discipline because of their shattered faith and unnecessary doubts induced in their minds to continue their old *karma* ***mārga*** due to the very strong destructive logical arguments employed to reject the path of ritual action. Thus he loses faith in both the discipline, i.e. on the one followed already and other one advocated recently. This horrible and pitiable status is called ***Ubhaya bhraṣṭatā*** meaning fallen from both the paths.

To protect these persons in particular, and other ordinary persons in general, the commentator opines that even the contemplative worshippers should continue to perform the rituals as ordained in ***pūrva khāṇḍa*** of Vedas in the same way as if they had conviction in their absolute efficacy.

It is with this intention that injunction statements are ordained. ***Lokasaṅgrahamevāpi sampaśyan kartumarhasi***[19]. Even the learned persons are required to continue to do their duties and daily actions considering the welfare of ordinary people and prohibitive statements are advocated.

Na buddhi bhedam janayet ajñānām karmasanginām. The wise man should not do anything or act in such a way to bring delusion or doubts in the minds of ignorant attached to action.

Those who attained and practice the higher stage of worship should in all respects maintain and support the previous stages lower to him and, at the same time, not reveal the contents and positions of his own stage. This simply means that such practitioners of higher stage of worship should closely guard their secret of their doctrines and practices and not reveal it publicly. This is the overall essence of what is stated so far in this context. So, it is imperative and so established that these injunctions and prohibitions are mandatory and applicable even to those ***jīvan muktās*** i.e. realized souls (liberated while yet living) who tread on the path of liberation devoid of any association with the three ***gunas*** that permeate the material world.

However, a competent man should reveal very gradually over a period of time, the so far guarded secret doctrines and practices of his present stage or form of worship to those whose minds are ripened, firm and purified by their ritual practices in many previous births as prescribed in former part of ***veda.*** This should be done only after analyzing and examining such persons very carefully for their competency level.

If the above science of worship is not taught and handed over as stated above, there is a real danger of breaking the traditions. Conversely the tradition will continue uninterrupted when knowledge is taught and imparted by a competent preceptor to a deserving disciple.

The various stages finally leading up to the worship of supreme goddess ***Tripura sundari*** also called ***ṭripura*** are presented and described in detail in his ***Setubandha*** commentary on ***vāmakeśvaratantram***.

Many texts like ***Soubhāgya bhāskara, sundari tāpini pañcaka, Bhāvanopaniṣad, Kaulopaniṣad Guhyopaniṣad, Mahopaniṣad*** and ***kalpasutra*** other ***upaniṣads*** describe in detail the ***Gauni bhakti*** of ***Mahātripurasundari*** and matters, relating there to the ***Paraśurāma-kalpasutra*** and other such texts belong to the latter part of the *veda* or the ***upaniṣad****kanda*. ***Āśvalāyana*** and others belong to the ***purvakanda*** of the *veda.* The *puranas* relate to and follow both the *kandas.* Therefore the authority of the ***smṛti, tantra and purāṇa*** is due to their being based on *veda*. "***ṣmṛti tantra puraṇānām vedamulakatvena prāmaṇyam***". Though the general term *tantra* is given for ***pāśupata pāñcarātra vaikhānasa*** we must understand that these are for those who have fallen from ***śruti*** and who are afraid of the ***prāyaścitta*** prescribed. The *adhikara sutra* ***patirasāmanjasyāt*** (II 2.37) applies to *tantras* of this class. The *agastya* and other *tantras* which describe the worship of ***rāma, kṛśṇa, nṛsimha, rudra, paraśiva, sundari,*** and others evidently derive from the ***rāmatāpini*** and other ***upaniṣads***. So without any doubt it is proved that they are authoritative. The statement –The Tantras are based on vedas is ascertained by the sentence '***vedaviruddhaṁśāstu tantre nāstyeva'***.

Those who say that ***dūtiyāga*** and others are opposed to vedas, are not in line with facts. In ***Tripuropaṇiṣad, bṛhadāraṇyaka, ātharvaṇasaubhāgyakāṇḍa*** and similar texts this rule is shown by traditionalists. Even in ***Vaidaka mata***,the women and men born in lower castes were given ***adhikāra***.

They are instructed to chant the ***mūlamantra*** in the place of ***gāyatri mantra, hṛllekha*** in the place of ***praṇava*** and ***nama*** in the place of ***svāhā***. There are three kinds of ***upāsakāsः- upaḍiṣṭāḥ abhiṣiktāḥ*** and ***pūrṇābhiṣiktāḥ***. Those who get the initiation of the mantra directly from the preceptor are ***upaḍiṣṭāḥ***. Those who get the *mantra* according to ***tāntrikadīkṣāvidhi*** are ***abhiṣiktāḥ***. Those who get the *mantra* after doing ***purascaraṇam*** (repeating many times) and along with many knowledgeable disciples,establish 1000's of ***kalaśas*** and get annointed with that are called ***pūrṇābhiṣiktāḥ***.

When the ***upaḍiṣṭā*** catergory are in the ***āśoucā*** period, they must not perform their daily ***pūjā***. But the others can perform these daily rituals without any hindrance. The ***vīradravya*** is also only for the ***pūrṇabhiṣeka.*** Others must only use pure water. The term ***pūrṇābhiṣikta*** denotes only the mere ceremony (***karmaviśesa)*** of a person. This can be done by many people. But, the statement "***nirvikalpo vītarāgo vāruṇīṁ pibet*** " stresses that even though a person is ***pūrṇābhiṣikta*** , if he is not possessing the given adjectives,devoid of desire etc, he is not eligible to use the ***vāruṇī dravya***. For such people the daily worship ritual is done using a substitute as quoted in ***Kālikāpurāṇa Pūjāprakaraṇa*** -

अवश्यं विहितं यत्र मद्यं तत्र द्विजन्मना ॥
नारिकेलजलं कांस्ये ताम्रे वा क्रियतां प्रति ॥

The aspirant can substtitute the ***vāruṇī dravya*** with tender coconut water kept in a copper or brass vessel. Here also only the ***pūrṇābhiṣikta*** are given the substitute and not others. So only, the term ***dvijanmanā*** refers to a person who is devoid of the said adjectives but is a ***Pūrṇābhiṣikta***. So from this we can infer that even a brahmin having the said adjectives is

eligible to use the ***vīradravya***. ***kṣatriyās*** can use according to their desire. ***Māmsa*** is meant for ***pancadravida***. ***Māthurās*** are not allowed to use as their custom prohibits them. The *Pancagauda'*s have unstoppable right. This is also the same for ***dūtiyāga*** according to one's ***guru paramparā*** view and ideology. This is a caution to the people about the possible misuse by persons who do not possess the required qualities.

References

1. *NityaṣodaśiKārnava*, verse 15-22
2. प्रवृतिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
   पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥ ***smṛti vākya***
3. पशुशास्त्राणि सर्वाणि मयैव कथितानि हि ।
   मूर्त्यन्तरं तु संभाव्य मोहनाय दुरात्मनाम् ॥
   महापापवशान्नृणां तेषु वाञ्चाऽभिजायते ।
   तेषां हि सद्गतिर्नास्ति कल्पकोटिशतैरपि ॥ ***kaula prakaraṇa*** p.no.22 vide NityaṣodaśiKārnava
4. *KulārṇavaTantra*, vide p.no22, *NityaṣodaśiKārnava* ***kaula prakaraṇa***:-
   कुलमार्गरतो देवि न मया निन्दितः क्वचित् ।
   आचाररहिता येऽत्र निन्दितास्ते न चेतरे ॥
5. कुलधर्मं हि मोहेन योऽन्यधर्मेण दुर्मतिः ।
   सकृत्साधारणं ब्रूयतसोऽन्त्यजो नान्त्यजोऽन्त्यजः ॥ ***śiva vacanaṁ p.no.22 of Nityaṣodaśi Kārnava***
6. कामो योनिः कमलावज्रपाणिः गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः ।
   पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्चैषा विश्वमातादिविद्योम् ॥ *देव्युपनिषद्* ॥
7. *तैत्तिरीयारण्यक।*

No. 3 First truest main Road
Mandavelipakkam
Chennai-600028
Mob. 9094863776

Action-Outcome Outline's Recall, Usability & Utility

Chaitanya C. Ugale*[1], Dr.Sanjay D. Singh*[2]

Abstract

The Yoga Scienceis a practical philosophy for the workman ensuring ultimate meaning, ultimate wellbeing, & greater prosperity. 'Action-Outcome Outline' is its core whose recall, usability, & utility tested in this study. Incidentally, it also fulfils the gaps of Management Sciences by confirmingpractical approach to work, explains the multilevel, micro-meso-macro human functioning, &carefully considers individual variance underlying the organizational performance. The study used mixed methodology combining Mathematical Modelling for simplification of concept & User Experience Questionnaire (UEQ)for collecting subsequent feedback data. The Action-Outcome Outline which show cases workman's outright auspiciousness, & accomplishments, found to be recallable, usable, & useful. The Management Sciences' work related aspects can berefined in this context.The study can be contributing to the fields of Yoga Science, Work Psychology, Management, & Economics.

Keywords – Action-Outcome, Vedas, Yoga, Workmen, Usability, Utility

Introduction

"Consequence is related to the objective outcome of the choice made. When a man focuses on a wrong choice, attached to result oriented activity, the negative outcomes follows. Discretion in action is to choose the right course of action amidst choices based on universal values, & to have

evenness of mind, abiding to the universal law of cause & effect" (Kumar, Sreenivasan, & Gowda, 2016). Based on this Yoga Science, Action-Outcome outline effected by (Ugale et al., 2019). The understanding of these scientific facts is crucial for the Workmen. 'Workman' means any person with non-casual employment for the purposes of the employer's trade or business. So this study is applicable to the entire workmen irrespective of their individual positions." For Transpersonal Psychology the psyche is multidimensional & that there are several "levels of consciousness" & each has different characteristics, & governed by different laws" (Valverde, 2015). Similarly developed Action-Outcomes levels outline tested in the study from user point of views for recall, usability, & utility.

"Many global corporations & MNCs are looking for ways to improve the employees' work-life balance, self-confidence, assertiveness, job satisfaction, loyalty, personality development, ethics, & commitment using *Bhagavad Gita*. This is very much applicable in dynamically changing global economic & business scenarios"(Sudhakar, 2014). The Yoga Science based study is a sound resource to fulfil the narrated outcomes & close research gaps as mentioned below.The moot problem is majority of the people are unmindful about the intricate mechanism of Action-Outcomes. Also the ways of leveraging it to everyone's advantage in work life, & life as a whole. "In the field of management much progress remainsin terms of bridging micro-macro domains.Such integration will help bridge the much lamented science-practice gap in management" (Aguinis et al., 2011). "The existing theory research in SHRM has ignored (via assumption) the individual variance & processes that are necessary in order for HR practices to impact organizational performance. It has suggested a multi-level framework for examining these issues" (Wright & Nishii, 2007).

I-O researchers (Landy & Conte, 2013, p. 4)opines that "work is a greater devotion of time & energy than to any other single waking human activity therefore, work is important to people. The experience of work goes

well beyond the simple exchange of time for money".TheIndustrial-Organizational Psychology is devoid of any simple outline to follow fordivine vs. worldly work, skilful vs. inferior action, free vs. binding outcomes of actions, &ultimate meaning, elevation, wellbeing."The Nature of the work is an important factor in motivating or discouraging employees" (Sultan et al., 2018).Yoga level action intrinsically motivates the employee & furthers the importance of work by facilitating the ultimate human development.

The economist repeats the yogic work ideals. "The progress of man's nature' (character) was at the centre of the ultimate aim of economic studies. Man's occupation should make only gentleman. 'Man's character formed by his daily work in the development of as many multiple activities, & high faculties as possible.' Fairly steady work offers the best opportunity for the growth of those habits of body, mind, & spirit in which alone there is true happiness" (Nishizawa, 2017). "Real progress is "Increase of material wealth turned to account in developing the higher life of mankind"" (Caldari, 2004). The action from Yoga is the practical foundation of such an idealistic economics philosophy &'Action-OutcomeOutline' is its manifestation guide.

The ILO has century long history of research in the domain of work. Few excerpts from the ILO researches, & the contextual utility of Action-Outcome Outlineare as follows -"The fundamental principles & rights at work are the essential foundation, the "floor" of Decent Work"(ILO, 2018). However, this foundation needs to be strengthened by principal of transcendental actions which is the "floor of floors" of Decent Work. "The instrumental, social & purposive role of work for the individual & society are timeless. How current processes of change can be shaped so that work is better able to fulfil this role; what opportunities do they bring, & what risks?" (ILO, 2018) The Action-Outcome Outlineforetells both the process

of change, & the opportunities-risks of work & means for favourable outcomes fulfilling its stated roles.

Individual can't live without doing Action/Karma for a single instant, & then how about the mandatory action turns into earthly prosperity & divine grace as well? The compactedAction-Outcomesoutline is a ready reference to maximize the work's results on all physical-transcendental levels. Added is turning work into worship, & getting rewarded for it on material levels & beyond.Compared to Matter level action, continuous Yoga level (Transcendental) action in daily life brings greater prosperity, auspiciousness & accomplishments. It will make them skilful reduce entropy, increase Syntropy, cause integration & ones emancipation. Today the work life is turbulent, dynamic, recklessly paced. For workmen, it is a Yoga Science's standpoint on prosperity that engulfs, & goes beyond the western work related Psychology's paradigms. This integrative research can be having widespread implications in the Yoga, Work / Vocational / Industrial & Organizational Psychology / OB, & Management fields.

Materials & Methods

Mathematical Modelling represented intricacies of Action/Karma (Dorj, 2014),&the natural consequences of *Bhagvad Gita* based self-growth & choices model for success or failures (Kumar et al., 2016). Similarly, this study used Mathematical Modelling &represented Action-Outcome outline. The represented outline introduced &explained to group of 58 Government employees in a NISHTHA: National Initiative for School Heads' & Teachers' Holistic AdvancementTraining Program.The post training data collected through a feedback form (User Experience Questionnaire (UEQ)) as attached in (Annexure I). It measured the Action-Outcomes Outline's recall, usability, & utility. The participants were given choice to respond or otherwise. Out of the group, 40 employees responded. Two responses discarded due to incompleteness & remaining 38 responses analyzed.

Researchers of Design & evaluation of User Experience Questionnaire (UEQ-S) observe, "All aspects of user experience & product performance perceptions are highly subjective evaluations. Therefore, questionnaires are a simple method to collect such user feedback due to efficient group administration, standardized data analysis. The objective of the UEQ is to allow a quick assessment done by end users covering a preferably comprehensive impression of user experience"(Schrepp et al., 2017).For tangible medical product, improving usability & maintaining performance through user feedback detailed by (Dhand et al., 2019). "User acceptance testing is very important as, not the tester but the users will use it in daily basis"(Mahmud et al., 2020).Furtherto these researches, following & improvising of the methods, current study represented Action-Outcomes Outline which is intangible research product.Each rated item was multiplied by 20 to get standard score out of 100. This is can benovel Mixed Methodology used in the Yoga Science.

Assume,

The arrows illustrate – (Higher ↑↑), (Medium ↑), (Lower ↓), (Implication →)

Prakruti/Matter as (M), Triguna's (T), Action (A), its Product (P), & related Outcome (O)

Sattva (S), *Rajas (R)*, &*Tamas (T)*

- S (↑↑), R (↑), T (↓)
- Sattva powered Action (SA) = Good deeds, Pleasure, Knowledge, Product (SP) = Knowledge (K), Outcome = SattvikPhala, Full of Purity (SO) --- (I)
- Rajas powered Action (RA) = Externally pleasure ultimately sufferings, Product (RP) = Greed (G), Outcome = RajsikPhala, Full of Passion (RO) --- (II)

- Tamas powered Action (TA) = Ignorant, Product (TP) = Delusion (D), Inertia (In), Ignorance (Ig), Outcome = AdnyanmayaPhala, Full of Ignorance (AO) --- (III)
- Death-Rebirth (Dt-Rb) --- (IV)
- Based on (I) – (IV),
- M → T → A → P → O
- M = (S, R, T)
- 'S' dominant → SA → SP → SO
- 'R' dominant → RA → RP → RO
- 'T' dominant → TA → TP → AO → S, & R marginalised
- (S↑ ↑) increases further → Discriminate Self/Non-Self → Ultimately Merge in Self
- (M) → Outcomes → Upon (Dt-Rb) as per any last dominant attributeThe resultant *Prakruti-Triguna (Matter-Three Attributes) dynamics shown in Fig.1*
- ARL → AQL → (AOL (Individual level outcomes)) →Input(I/P) to Group Level
- Action-Root Levels *(ARL)* as –Unified Field*(ARL1),*Yoga/ Transcendental Action *(ARL2),*Matter*(ARL3)* --- (I)
- Action-Quality Levels *(AQL)* as – Unity-Action-Absorption, Beyond Action & Non-Action, Doing-Being, Happening *(AQL1),* Skilful Action, Being*(AQL2),*Inferior Action, Doing*(AQL3)* --- (II)
- Action-OutcomesLevels *(AOL)* – Unified Field, The ultimate itself, Creator of Destiny, basis ofM, Beyond Syntropy-Entropy *(AOL1),*Syntropy,Non-binding, Free, Change of destiny, beyondP*(AOL2),*Entropy,Fix, binding, Determined Destiny, bondage byM, Death-Rebirth *(AOL3)* --- (III)
- Based on (I-III),
- ARL = (ARL1↑↑, ARL2↑, ARL3↓)
- AQL = (AQL1↑↑, AQL2 ↑, AQL3↓)

- AOL = (AOL1↑↑, AOL2↑, AOL3↓) --- (IV)
- ARL3 → AQL3 → AOL3 → Matter Force, Samsara, Degeneracy (Entropy)
- ARL2 → AQL2 → AOL2→ Atmabal (Soul Force),Liberation, Cosmic order (Syntropy)
- ARL1 → AQL1 → AOL1→ Unified Field Force &The Ultimate itself (Beyond Entropy-Syntropy) --- (V)
- Based upon (I)-(V), resulted revised Action-Outcome Outline is shown in Fig.2

Results & Discussions

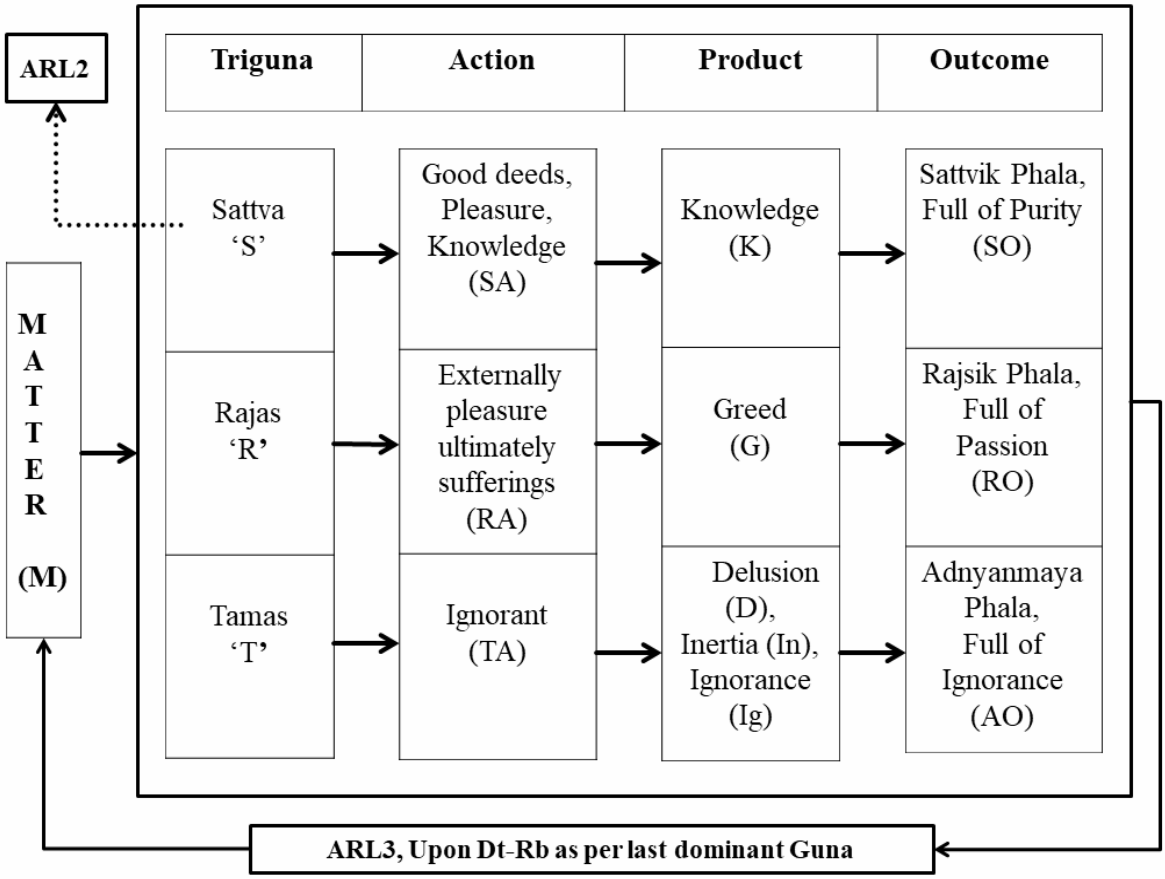

Fig.1Prakruti(Matter)-Triguna(Three Attributes)Dynamics

Prakruti (Matter) forces beings in 'Action'. The type of action depends upon dominant Guna (Attribute). The consequent types of actions results in different 'Products', which in turn influences types of 'Outcomes'.The choice of action is in human hand whose products are determined by Prakruti. To break this vicious cycle, a workman has to rise above Prakruti through Yoga, & perform transcendental actions, free from bondage. Upon death, new life is taken as per the influence of last dominant 'attribute'.

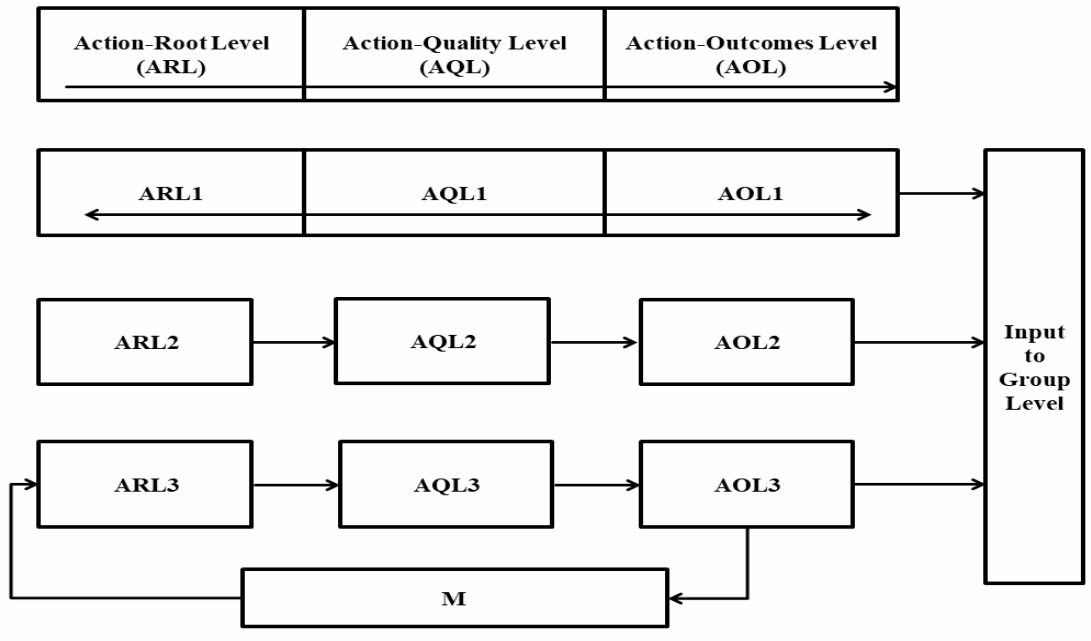

Fig.2Yoga Science based Action-OutcomesLevels Schema

Action-Quality-Outcomes on lower 3rdlevel functions as described in Fig.1. The initially approachable 2ndTranscendental level is action from Yoga. At the 1st Unified Field's level, Action-Outcomes go together. Descriptive Figure 2, resultants in Figure 3 is as follows -

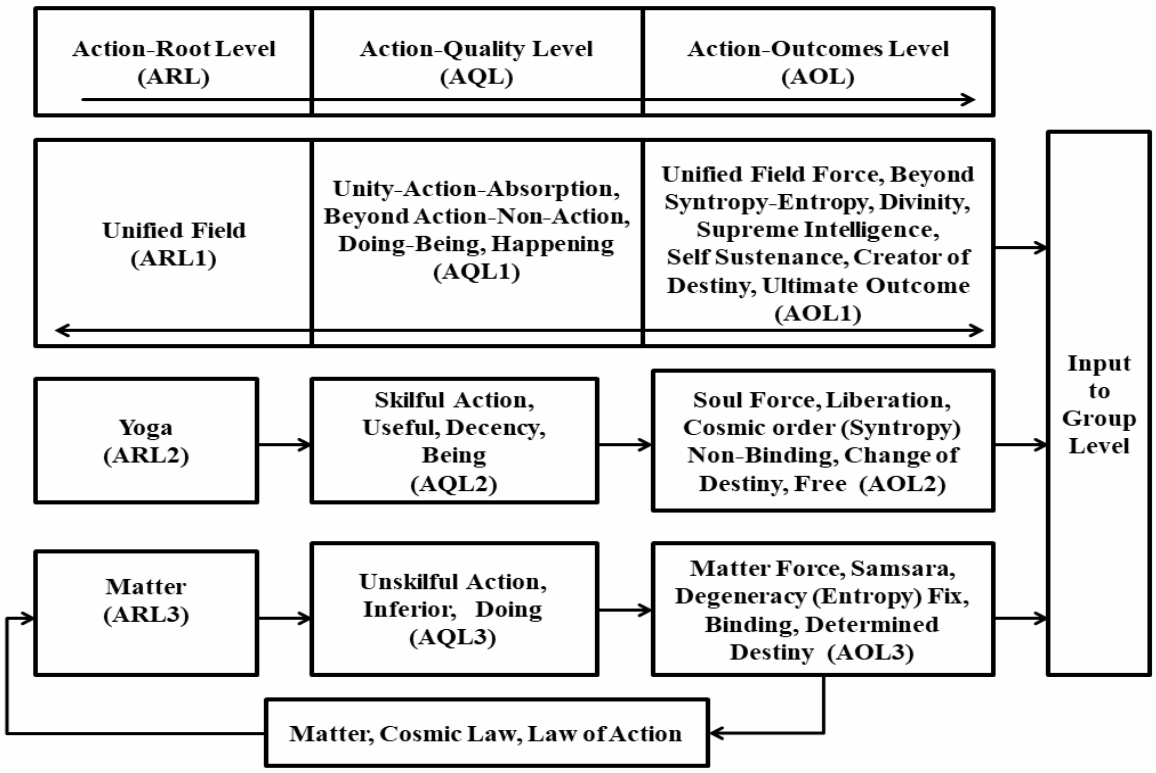

Fig.3 **YogaScience based Action-Outcomes Levels Descriptive Schema**

The Fig.3 unfolded the underlying mechanism of how the connection with our source will roll out for the workmen's action to prosperous outcomes & save from destruction. It shows action level based intervention for ultimate meaningful life, & ultimate wellbeing, through increasing Atmabal/Soul force.

The Yoga Science based Action-Outcomes Levels for Workmen found to be (82.2%) Usable, (80.6%) Recallable,&of (87.4%) Utility.(80.36%) employees are in favour of review of current Management practises. Itdepictsthe micro-marco, universal, experiential levels.It has materialized the consideration of(Valverde, 2015)Transpersonal Psychology about several "levels of consciousness" & its different characteristics, with governing different laws covering multiple dimensions of psyche. It fulfils

the micro-meso-macro gaps by presenting Yoga Science for workman's prosperity &endsthe much lamented science-practice gap in management identified by (Aguinis et al., 2011). Further covered here via suggested multi-level framework, the individual variance & processes that are necessary in order for HR practices to impact organizational performance ignored (via assumption) in the existing theory & research in SHRM(Wright & Nishii, 2007). This study addressed concerns of ILO Researchers & Economist (Swami Agnivesh 2004) & (Naraine, G. 2004)by supplanting 'floor forDecent work' principals. The study also dished out the practises, enhancing significant role of work in individual & social life as per (ILO, 2018). It gives a way out for progress & sustainable development as mentioned by (Caldari, K. 2004).

Limitations – The user experience is subjective in nature.The human error in data entry, coding, or processing can be possible. Assumptions used in mathematical formulations in method are the limits in their own sense. The quick experimentation to verify Action-Outcome Outlineis impractical.

Future research – The individual workmen level output of outline is the input to group level & consequently to organizational level. The group & organizational level implications of Yoga Science based Action-Outcomes Levels for Workmen can be researched further. Theories & models related to work& outcomesin the fields of Work / Vocational / Industrial / Organizational Psychology, Organizational Behaviour, Employee Training, & Organizational Development, HRD/HRM/SHRM & Management/ Decision making sciences, Economicscan be restated in this context.

Conclusions

The complex Yoga Science's concept found to be considerably recallable, usable, & utilizable for the workmen.The methodology used in study can be novel for Yoga Science. The represented, compacted; handy outline is a ready reference to maximize results on all physical levels,

through deepening the levels of consciousness from work standpoints. Added is turning work into worship & getting rewarded for it immediately on material levels & beyond. This is a practical aspect of glorious philosophy. The study closes on gaps in management practises like practicality, encompassing multi-dimensions, & highlighting individual variance for outcomes.The study can have implications in terms of meaning, & outcome of work, for the Industrial-Organizational Psychology, HRD, and Yogic Science,&Yoga-Management applications. For the individual workman the study can be useful in daily work life fulfilling the research project's aims & objectives.

References

Aguinis, H., Boyd, B. K., Pierce, C. A., & Short, J. C. (2011). Walking New Avenues in Management Research Methods and Theories: Bridging Micro and Macro Domains. *Journal of Management*, *37*(2), 395–403. https://doi.org/10.1177/0149206310382456

Caldari, K. (2004). Alfred Marshall's Idea of Progress and Sustainable Development. *Journal of the History of Economic Thought*, *26*(4), 519–536. https://doi.org/10.1080/1042771042000298733

Dhand, R., Eicher, J., Hänsel, M., Jost, I., Meisenheimer, M., & Wachtel, H. (2019). Improving usability and maintaining performance: Human-factor and aerosol-performance studies evaluating the new reusable Respimat inhaler. *International Journal of Chronic Obstructive Pulmonary Disease*, *Volume 14*, 509–523. https://doi.org/10.2147/COPD.S190639

Dorj, J. (2014). Mathematical Proof of the Law of Karma. *American Journal of Applied Mathematics*, *2*(4), 111. https://doi.org/10.11648/j.ajam.20140204.12

Gurjar, A. A., & Ladhake, S. A. (2008). Time-Frequency Analysis of Chanting Sanskrit Divine Sound "OM" Mantra. *IJCSNS International Journal of Computer Science and Network Security*, *8*(8), 6. http://paper.ijcsns.org/07_book/200808/20080825.pdf 29/9/2018

ILO. (2018). *Cluster 1: The role of work for individuals and society*. International Labour Organization, Global Commission onThe Future of Work. https://www.ilo.org/wcmsp5/groups/public/---dgreports/---cabinet/documents/publication/wcms_618163.pdf 28/9/2018

Kumar, A. M., Sreenivasan, R., & Gowda, G. P. (2016). Empirical model on self growth: Based on Bhagavat Gita. *,International Journal of Interdisciplinary and Multidisciplinary Studies (IJIMS),4*(1), 41–48. http://www.ijims.com ISSN - (Print): 2519 – 7908 ; ISSN - (Electronic): 2348 – 0343 26/10/2018

Landy & Conte. (2013). *Work in the 21st century, an introduction to Industrial & Organizational Psychology* (4th ed.). Wiley. https://jmipsychstudents.files.wordpress.com/2016/08/frank-j-landy-jeffrey-m-conte-work-in-the-21st-century-an-introduction-to-industrial-and-organizational-psychology-4th-edition-wiley-2012.pdf 9/1/2018

Mahmud, I., Sadia, F., Rahman, M., Ahmed, S., & Islam, D. (2020). *Web usability test in 60 seconds: A theoretical foundation and empirical test*. *17*(1), 6. https://www.researchgate.net/profile/Imran_Mahmud2/publication/336057745_Web_usability_test_in_60_seconds_a_theoretical_foundation_and_empirical_test/links/5d8c6421a6fdcc25549a57a4/Web-usability-test-in-60-seconds-a-theoretical-foundation-and-empirical-test.pdf 16/12/2019

Nishizawa, T. (2017). *Alfred Marshall on progress (Organic life growth) & Welfare (Human Wellbeing)*. http://www.ier.hit-u.ac.jp/extra/doc/WS2015/4.Nishizawa.pdf 27/9/2019

Schrepp, M., Hinderks, A., & Thomaschewski, J. (2017). Design and Evaluation of a Short Version of the User Experience Questionnaire (UEQ-S). *International Journal of Interactive Multimedia & Artificial Intelligence*, *4*(6), 103–108. https://doi.org/10.9781/ijimai.2017.09.001

Sudhakar, G. P. (2014). Project Management Insights from Bhagavad Gita. *PM World Journal*, *III*(IV), 14. https://papers.ssrn.com/sol3/papers.cfm?abstract_id=2475474 27/9/2019

Sultan, Y. S. A., Shobaki, M. J. A., Abu-Naser, S. S., & Talla, S. A. E. (2018). Effect of the Dominant Pattern of Leadership on the Nature of the Work of Administrative Staff at Al-Aqsa University. *International Journal of Academic Information Systems Research*, *2*(7), 8–29.

http://dstore.alazhar.edu.ps/xmlui/bitstream/handle/123456789/102/IJAISR180702.pdf?sequence=1&isAllowed=y27/9/2019

Ugale, C., Singh, S., & Gowda, P. (2019). Yoga Science based action-outcomes outline. *Shodhpradnya*, *7*(1), 198–210. http://usvv.ac.in/downloads/shodhprayaga-dec-2019-book.pdf17/1/2019

Valverde, R. (2015). Channeling as an Altered State of Consciousness in Transpersonal Psychology Therapy. *Journal of Consciousness Exploration & Research*, *6*(7), 405–416. 1/11/2018

Wright, P. M., & Nishii, L. H. (2007). Strategic HRM and Organizational Behavior: Integrating Multiple Levels of Analysis. *CAHRS Working Paper Series*, 26. http://digitalcommons.ilr.cornell.edu/cahrswp/468 5/9/2018

Annexure I

Name नाव - **Organization संस्था -** **Designation पदनाम –**

S.N.	**Action-Outcome Outline Recall, Usability & Utility Questionnaire**	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**
1	Multi-level Action-Outcomes relationships understood					
2	Multi-level Action-Outcomes relationships recalled					
3	Action-Outcome Schema is easy & simple to use					
4	Action-Outcome Schema has utility for workmen					
5	Action from Yoga is selfless, outcome changing, free					
6	Soul force is key to success					
7	Yoga unleash extra Soul force					
8	Action-Success formula understood					
9	Field of Matter is mortal					
10	Prakruti/Matter force means ‘DO’					

11	Action from Matter binds					
12	Action from Matter is inferior					
13	Action from Matter is cyclic, worthless, avoidable					
14	My life is my creation					
15	Routine work can unfold divinity					
16	Yoga Science is practical philosophy					
17	Current management practises needs review					
18	Deeper the level of action, higher the prosperity, peace, elevation					
19	Action-Outcome research is worthwhile					
20	Yoga means skill in action					
21	Unified field is life's base & ultimate outcome					
22	Action from Yoga changes destiny					
23	Action-Outcome schema altered work perspective					
24	I would like to practise action from Yoga					
25	Individual's action level influences group/team's outcomes					

Current & Permanent Resident Address - Chaitanya C. Ugale,C3, Suyog C.H.S. Date Nagar, Gangapur Road, Nashik, Post Pin Code - 422 013, MH, India
Chaitanya C. Ugale,kaivalyachaitanyayog@gmail.com
Mob- +91 9604717940 Fax - +91-1334-244805
(Author 1*) Phd Research Scholar, Department of Yog Science, University of Patanjali, Haridwar.

(Author 2*) PhD Supervisor https://orcid.org/0000-0001-9363-8609
Assistant Professor, Department of Yog Science, University of Patanjali, Haridwar.

पुस्तक समीक्षा

सम्प्रेषण एवं संवाद पर अद्वितीय शोध कृति :

संवाद उपनिषद्

विद्यावाचस्पति गुलाब कोठारी

प्रकाशक : पत्रिका प्रकाशन (राजस्थान पत्रिका) जयपुर
मूल्य 700 – पृष्ठ 752 (प्रकाशन वर्ष 2020)

वेदों के वैज्ञानिक भाव के सिद्धहस्त विचारक, मनीषी, पत्रकारिता के प्रख्यात हस्ताक्षर तथा भारतीय संस्कृति के मार्मिक विवेचक आचार्य गुलाब कोठारी ने अपनी विचारमयी तप:पूत लेखनी से *'संवाद उपनिषद्'* नामक महाग्रन्थ का प्रणयन कर अद्भुत कार्य किया है। इसमें 30 विस्तृत विचारोत्तेजक, शास्त्रीय मर्म के उद्घाटक, दार्शनिक मीमांसा से मण्डित लेख हैं, जिनमें सम्प्रेषण एवं संवाद के स्वरूप, घटक, सिद्धान्त, स्रोत, प्रभाव, परिणाम, सृष्टि, परम्परा, वैविध्य सर्वव्यापक, गहनतर आदि विषयों का साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन किया है।

ब्रह्म किस प्रकार जीव में अपनी सम्पूर्णता को सम्प्रेषित करता है? जीव एवं शिव के मध्य कौन-सा सम्प्रेषण एवं संप्रवाह निरन्तर चलता है? संवाद का परस्पर सम्प्रेषण किस प्रकार सिद्धान्तित होता है? अव्यय पुरुष की पाँच कलाओं से जगत् की निर्मिति कैसे होती है? आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण एवं वाक् के मध्य सम्बन्ध कैसा है। आत्मा, बुद्धि, मन तथा शरीर के द्वारा सम्प्रेषण की भूमिका का वैज्ञानिक आधार क्या है? सम्प्रेषण में भाषा का स्वरूप, साधना में भाषा का संवाद, पत्रकारिता के सम्प्रेषण, गुरु-शिष्य तथा स्त्री-पुरुष के मध्य सम्प्रेषण का वैज्ञानिक आधार क्या है? अहंकार, भय, क्रोध तथा हिंसा के बन्धन से मुक्त होने का मार्ग क्या है? कर्म को अकर्म कोटि में कैसे पहुँचाया जाये? श्रीकृष्ण को स्वहृदय में कैसे पहचाने? भोग से मुक्ति तथा योग से युक्ति का मार्ग क्या है? व्यसन से निवृत्ति, ऋण त्रय से मुक्ति, अग्नि, सोम, यम तथा पितर प्राणों का वैज्ञानिक रहस्य, अव्यय पुरुष की पाँच कलायें, विवाह की आवश्यकता, शरीर, मन एवं प्राण का वैज्ञानिक रहस्य, स्वयं से स्वयं का संवाद आदि—जीवन की मौलिक समस्याओं का शास्त्रीय समाधान सर्वप्रथम प्रस्तुत कर महान् उपकार किया है। अपने समस्त जीवन के शोधानुभवों के सार को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है जो पत्रकारिता, वैदिक विवेचना, मानवीय व्यवहार, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना तथा शिक्षा के मूल विषयों में भारतीय आर्ष चिन्तन के स्वरूप को समझने की कुञ्जिका है। इस अनुपम ग्राह्य ग्रन्थरत्न के लिए सादर नमन। यह ग्रन्थ अपने विषय में सुगम्य, अद्वितीय, स्वागतार्ह, मननीय एवं संग्रहणीय है।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
सम्पादक